जनवादी क्रान्ति के अधूरे छूटे कार्यभार और समाजवादी क्रांति

(पहली किस्त)

सैद्धान्तिक विवेचना

यह एक सच्चाई है कि भारतीय समाज में किसी भी किस्म की जनवादी क्रांति (बुर्जुआ, निम्न बुर्जुआ अथवा सर्वहारा के नेतृत्व में होने वाली) नहीं हुई। लेकिन यह भी सच है कि एक सदी से भी अधिक समय तक भारतीय समाज को जनवादी क्रांति की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता बीसवीं सदी के कम से कम छठे और सातवें दशक तक बनी रही। परन्तु भारतीय समाज में आये बुनियादी परिवर्तनों ने उसके बाद जनवादी क्रांति की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। वर्तमान भारतीय समाज में पूंजी और श्रम का अंतर्विरोध बुनियादी और प्रधान अंतर्विरोध है। अतः भारतीय समाज में इस बात की आवश्यकता है कि इस अंतव्रिरोध को श्रम के पक्ष में हल किया जाय। ऐसा समाजवादी क्रांति के जरिये ही हो सकता है। क्योंकि पूंजी और श्रम का अंतर्विरोध ही बुनियादी और प्रधान अंतर्विरोध है अतः इसके हल होने से ही अन्य बुनियादी और प्रमुख अंतर्विरोधों (यथा, दूसरे बुनियादी अंतर्विरोध साम्राज्यवाद और भारतीय जनता, सामंतवाद के अवशेष तथा भारतीय जनता के बीच अंतर्विरोध ...) के हल होने का मार्ग खुलेगा।

भारतीय समाज के इतिहास पर नजर डालने से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि एक समय तक यानी प्रथम विश्वयुद्व के छिड़ने और **1917** की रूसी अक्टूबर क्रांति के पहले तक भारत में घटने वाली कोई क्रांति यदि होती तो वह अपने चरित्रा में अन्य देशों की तरह पूंजीवादी–जनवादी क्रांति होती। और यह क्रांति अपनी प्रेरणा व ऊर्जा अतीत में घटी पूंजीवादी–जनवादी क्रांति से ही पाती। यह पूंजीवादी–जनवादी क्रांति विश्व की पूंजीवादी–जनवादी क्रांति का हिस्सा होती। उसी की श्रेणी में आती।

रूसी अक्टूबर क्रांति के बाद यदि भारत में कोई जनवादी क्रांति होती तो वह क्रांति की एक नई श्रेणी विश्व सर्वहारा–समाजवादी क्रांति का अंग होती। यह जनवादी क्रांति यद्यपि अपने चरित्रा व सामाजिक स्वरूप में पूंजीवादी–जनवादी क्रांति ही होती परन्तु यह क्रांति पूंजीपति वर्ग के नेतृत्व में न होकर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में होती। यह क्रांति क्रांतिकारी वर्गों (मजदूर, किसान, निम्न पूंजीपति वर्ग आदि) के संयुक्त अधिनायकत्व को लागू करती और समाजवाद की ओर उन्मुख होती। यह क्रांति सामन्तवाद के साथ–साथ साम्राज्यवाद पर कठोर प्रहार करती। यह अक्टूबर क्रांति और समाजवाद से प्रेरणा, ऊर्जा ग्रहण करती।

यह सच्चाई है कि भारत में न तो पुरानी श्रेणी और न ही नई श्रेणी की जनवादी क्रांति हुई। और तो और चीन के इतिहास की तरह यहां न तो **1911** और न ही **1927** की तरह की असफल क्रांतियां ही घटी। भारत के इतिहास में ऐसा क्यों हुआ कि उपरोक्त दोनों ही श्रेणियों की सफल या असफल क्रांतियां नहीं घटी, यह एक गहन विचार–विमर्श और शोध का विषय बनता है। इस विषय के कुछ पहलुओं पर इस लेख की दूसरी किस्त में बातें की जायेंगी। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है ताकि यह समझा जा सके कि भारत में जनवादी क्रांति के ऐसे कौन से अधूरे कार्यभार हैं जिन्हें भविष्य में भारत की समाजवादी क्रांति सम्बोधित करेगी।

लेख की पहली किस्त में 'जनवादी क्रांति के छूटे अधूरे कार्यभार व समाजवादी क्रांति' के आपसी सम्बन्ध में सैद्वान्तिक चर्चा की गयी है। इनमें से कई बातें ऐसी हैं जिन्हें 'लाल सलाम' के पहले के अंकों में प्रस्तुत किया जा चुका है। जिन पर पहले ही विस्तार से बात की जा चुकी है उनको यहां सार रूप में ही रखा जायेगा। उतनी ही चर्चा की जायेगी जितनी विषय के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण होंगी। परन्तु फिर भी ऐसे कई बिन्दु बनते हैं जिन पर मार्क्सवाद की रोशनी में पुनः चर्चा की आवश्यकता है। जैसे किसी समाज में क्रांति की मंजिल का निर्धारण कैसे किया जाना चाहिए। जनवादी क्रांति से सर्वहारा वर्ग का क्या सम्बन्ध है? क्यों जनवादी क्रांति सर्वहारा वर्ग के हित में रही है? वे कौन से तत्व हैं जिनके आधार पर हम किसी समाज को निर्णायक तौर पर पूंजीवादी समाज घोषित करेंगे?

इसी तरह तीसरी दुनिया के देशों में पूंजीवादी विकास किस तरह से हुआ? इसके उ७व व विकास में साम्राज्यवाद की क्या भूमिका रही? साम्राज्यवाद ने कैसे इन समाजों में परिवर्तन को जन्म दिया? इनके पार्थक्य को तोड़ा तथा साम्राज्यवाद द्वारा किये इस हस्तक्षेप ने भारत, चीन, ईरान, तुर्की जैसे देशों में पूंजीवाद के विकास में कैसे बाधा पहुंचायी, अवरोध खड़े किये?

ऐसे समाज जहां पूंजीवाद का विकास इस हद तक हो चुका है कि उन्हें समाजवादी क्रांति की दहलीज पर खड़ा मानते हैं फिर भी वहां पर जनवादी कार्यभार क्यों बचे हुए हैं? क्यों सामन्तवाद के अवशेष मौजूद हैं? क्यों छोटे पैमाने के उत्पादन की बहुलता है और क्यों कई किस्म की प्राक्पूंजीवादी संरचनाएं मौजूद हैं? इसे कैसे समझा जाये?

इसके साथ ही यहां पर यह चर्चा भी कर लेना आवश्यक है कि इन समाजों में पूंजीवाद के विकास को राजसत्ता ने कैसे प्रभावित किया। भारत जैसे समाज में राजसत्ता की समाज परिवर्तन (पूंजीवादी विकास में) के साथ–साथ इसमें एक अवरोधकारी भूमिका भी रही है जिस पर ज्यादा विस्तार से अगली किस्त में चर्चा की जायेगी। परन्तु यहां पर इस बात के सैद्वान्तिक पहलू पर मार्क्सवादी अवधारणा को याद कर लेना उचित होगा कि यह राजसत्ता के चरित्रा पर निर्भर करता है कि वह पूंजीवाद के विकास में क्या भूमिका निभायेगी और कैसे निभायेगी।

जिन सवालों पर चलते–चलते चर्चा की गई है, वे हैंऋ कि यदि किसी समाज में जनवादी क्रांति न हो तो पूंजीवाद का विकास कैसे होगा, कि अर्द्व सामन्तवाद से क्या आशय है, कि कृषि में पूंजीवाद की क्या प्रमुख अभिलाक्षणिकतायें हैं?

क्रांति का निर्धारण

किसी समाज में किस चरित्रा की क्रांति होगी इसका निर्धारण मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार इस बात से होता है कि वह समाज विकास की किस अवस्था में खड़ा है? सामाजिक उत्पादन की कौन सी प्रणाली प्रचलन में है और वह किस अवस्था में खड़ी है और उसकी दिशा क्या है?

आधुनिक युग की बात करते हुए इसे ऐसे कहा जा सकता है कि किसी देश विशेष का समाज पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास की किस अवस्था में खड़ा है? पूंजीवाद का विकास समय विशेष में उस समाज में कहां तक हुआ है तथा सामन्तवाद अथवा प्राक्पूंजीवादी संरचनाएं किस हद तक मौजूद हैं? इस देश विशेष का अन्य देशों से क्या सम्बंध है? वह उत्पीड़ित है कि उत्पीड़क है? यानी साम्राज्यवादी देश है कि साम्राज्यवाद से उत्पीड़ित देश है? यदि देश साम्राज्यवादी देश द्वारा उत्पीड़ित–शोषित है तो यह साम्राज्यवाद से किन सम्बंधों में बंधा हुआ है? औपनिवेशिक, अर्द्व औपनिवेशिक, नव–औपनिवेशिक कि आर्थिक नव औपनिवेशिक? यदि हम किसी साम्राज्यवादी देश के संदर्भ में बात कर रहे हैं तो वह कैसा साम्राज्यवादी देश है? प्रथम विश्वयुद्व के समय का रूसी साम्राज्यवादी कि द्वितीय विश्वयुद्व के बाद का अमेरिकी साम्राज्यवादी या **1970** के समय का सोवियत साम्राज्यवादी।

समय विशेष व देश विशेष की बात करना उपरोक्त सन्दर्भ में इसलिए जरूरी है कि इससे क्रांति की मंजिल या चरित्रा बदल जायेगा। जो बात एक ऐतिहासिक परिस्थिति के लिए सही हो वह दूसरी परिस्थिति में बदल सकती है। जैसे कि हम चीन के संदर्भ में बात कर रहे थे कि **1911** में क्रांति का चरित्रा बुर्जुआ–जनवादी क्रांति का था तो **1949** में होने वाली क्रांति सर्वहारा के नेतृत्व में नव जनवादी क्रांति थी। यानी समय बदलने के साथ ही क्रांति का चरित्रा व नेतृत्वकारी वर्ग बदल गया। ऐसे ही चीन की नव जनवादी क्रांति के समक्ष एक प्रमुख प्रश्न साम्राज्यवाद से मुक्ति का था जबकि रूस की अक्टूबर क्रांति ऐसे मुल्क में हो रही थी जो स्वयं एक साम्राज्यवादी देश था।

मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार किसी समाज में क्रांति का युग तब शुरू होता है जब अपने विकास की एक खास मंजिल में पहुंचकर उत्पादक शक्तियां तत्कालीन उत्पादन सम्बंधों से टकराती हैं। यह टकराहट इसलिए होती है कि उत्पादन सम्बंध उत्पादक शक्तियों के विकास के अनुरूप नहीं रह गये होते हैं। वे उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा बनकर खड़े हो जाते हैं। बेड़ियां बन जाते हैं।

इस तरह से किसी समाज में क्रांति की मंजिल का निर्धारण इस बात की मांग कर रहा होता है कि वर्तमान में ऐसे कौन से उत्पादन सम्बंध है जो उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा बन कर खड़े हो गये हैं? बेड़ियां बन गये हैं? क्रांति इन बेड़ी बन गये उत्पादन सम्बंधों को बदलकर किन नये उत्पादन सम्बंधों को स्थापित करेगी जो कि उत्पादक शक्तियों के विकास को अवरोध मुक्त कर देंगे? बेड़ियों को तोड़ डालेंगे? जाहिर सी बात है कि एक समय बाद फिर ऐसा वक्त आ जायेगा जब उत्पादन सम्बंध उत्पादक शक्तियों की राह में रोड़ा बनेंगे और पुनः फिर नये उत्पादन सम्बंधों की मांग उठेगी जो उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधा मुक्त करें।

यहां मार्क्सवाद हमें सिखाता है कि उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बंधों के बीच द्वंद्वात्मक सम्बंध होता है। एक समय उत्पादन सम्बंध उत्पादक शक्तियों के विकास में बाधा बन जाते हैं तो एक समय वे उसके अनुकूल होते हैं। इसी तरह एक समय उत्पादक शक्तियों का विकास नये उत्पादन सम्बंधों के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर देता है तो किसी दूसरे समय उत्पादक शक्तियों का लंबे कालखंड तक का अल्प विकास पुराने उत्पादन सम्बंधों को बनाये रखता है।

उत्पादक शक्तियों का चरित्रा है कि वे एक अवस्था में ठहरी नहीं रह सकती हैं, वे गतिशील होने के साथ–साथ क्रांतिकारी गुणों से सम्पन्न होती हैं। आमतौर पर समाज की उत्पादक शक्तियां पहले विकसित और बदलती है तब जाकर ही इन पर आधारित उत्पादन सम्बंध बदलते हैं। परन्तु एक खास समय में विशेषकर क्रांति के समय में उत्पादन सम्बंधों में बदलाव निर्णायक भूमिका निभाते हैं। पुराने उत्पादन सम्बंधों के स्थान पर नये उत्पादन सम्बंध कायम होते हैं और ये नये उत्पादन सम्बंध कायम होने की प्रक्रिया तेजी से एक झटके में घटती है तो यह क्रांति कहलाती है। यहां एक बात विशेषतौर पर गौर करने की है कि उत्पादन सम्बंधों में बदलाव की इस प्रक्रिया में यह इस बात पर निर्भर करता है कि किन उत्पादन सम्बंधों का स्थान कौन से नये उत्पादन सम्बंध ले रहे हैं। बात का खुलासा करें तो समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध बिना क्रांति के स्थापित हो ही नहीं सकते जबकि पूंजीवादी उत्पादन सम्बंध सामंती समाज में ही जन्म लेने लगते हैं। इसलिए इस बात की संभावना सामंतवाद में बन जाती है कि वह बिना क्रांतिकारी ढंग के ही पूंजीवाद में तब्दील हो जाये। ऐसे में होता यह है कि क्रमशः पूंजीवादी उत्पादन संबंध प्रमुख बनते चले जाते हैं और सामंती उत्पादन सम्बंध समाज में क्रमशः गौण होते हुए लुप्त हो जाते हैं। दुनिया के कई देशों में पूंजीवाद ने ऐसे ही जड़ जमायी।

उत्पादन सम्बंधों में तीन बातें आती हैं। पहली यह कि उत्पादन के साधनों पर किसका स्वामित्व है? किन वर्गों का कब्जा है? दूसरी यह कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व वाले वर्गों का उत्पादन करने वालों से क्या सम्बंध है? उत्पादक वर्गों की भूमिका क्या है और इन सभी वर्गों का परस्पर सम्बंध क्या है? तीसरी बात यह कि उत्पाद का वितरण किस तरह से होता है, उसका स्वरूप क्या है?

किसी क्रांति का केन्द्रीय सवाल उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व का सवाल बनता है। समाजवादी क्रांति जब किसी पूंजीवादी समाज में घटती है तो वह उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति वर्ग के कब्जे को समाप्त करके मजदूर वर्ग के कब्जे को सुनिश्चित करती है। और अपनी कार्यनीति को निर्धारित करते हुए मजदूर वर्ग अन्य वर्गों के प्रति अपने रुख को भी तय करता है।

इस तरह से क्रांति में जो सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं, वे ये हैंऋ क्रांति के प्रहार का लक्ष्य क्या है, क्रांति की प्रेरक शक्तियां क्या हैं, क्रांति के कार्य क्या हैं, उसका स्वरूप क्या है? और उसका भविष्य क्या है? इन सवालों के जवाब ही क्रांति के चरित्रा का निर्धारण कर रहे होते हैं।

इन सवालों के जवाब हमारे सामने समाज का वस्तुगत मूल्यांकन का कार्यभार प्रस्तुत करते हैं। 'ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण' की मांग करते हैं। यह विश्लेषण इस बात का तकाजा पैदा करता है कि समाज के उत्पादन संबंधों या दूसरे शब्दों में वर्गीय स्वरूप का सही मूल्यांकन किया जाय। यानी इस रूप में सबसे महत्वपूर्ण सवाल समाज के वर्गीय विश्लेषण का बन जाता है।

क्रांति के निर्धारण में उपरोक्त शब्दों के अर्थ में वर्गों का सवाल सबसे महत्वपूर्ण सवाल बन जाता है। क्योंकि प्रत्येक वर्ग समाज में निश्चित उत्पादन सम्बंध को अभिव्यक्त कर रहा होता है इसलिए इसमें मनोगतवाद का कोई स्थान नहीं रह जाना चाहिए। सवाल इतने भर का रह जाता है कि हम मार्क्सवाद की द्वंद्वात्मक प्रणाली का सही ढंग से प्रयोग कर रहे होंगे तो हमारे सामने किसी वर्ग का विश्लेषण करते समय वास्तविक उत्पादन संबंध सामने आ जायेगा। इस बात को हम एक उदाहरण से समझने का प्रयास कर सकते है। किसी समाज के देहाती क्षेत्रा में रहने वाले भूमिहीन व्यक्ति को कब हम भूमिहीन किसान की श्रेणी में रखेंगे और कब हम उसे देहाती सर्वहारा मानेंगे।

कोई भूमिहीन व्यक्ति भूमिहीन किसान की श्रेणी में तब आयेगा जबकि उसके पास अपनी जमीन न होऋ वह जमींदार के शोषण व उत्पीड़न का शिकार हो।

साल भर की जुताई–बुआई के बाद भी उसके पास फसल का आधा या उससे भी कम हिस्सा आता हो। भूमिहीन किसान का शोषण जमींदार अधिशेष उत्पाद (**surplus-product**) के रूप में करेगा। यह अधिशेष उत्पाद पहले वस्तु लगान के रूप में (सामंती समाज में) हो सकता है जबकि बाद के समय में जब मुद्रा का प्रचलन हो चुका हो (जैसा कि अर्द्व सामंती समाज में अक्सर होता है) तब मुद्रा लगान (**money-rent**) के रूप में भी हो सकता है।

यह भूमिहीन व्यक्ति उस वक्त ग्रामीण सर्वहारा वर्ग का हिस्सा होगा जब कि पूर्ण रूप से (मुख्य रूप से) अपनी श्रम शक्ति बेचकर अपनी जीविका चला रहा होगा। इसका शोषण अधिशेष उत्पाद के रूप में न होकर अतिरिक्त मूल्य **(surplus-value)** के रूप में हो रहा होगा। समाज विकास की किसी अवस्था में इस खेत मजदूर को उसकी श्रमशक्ति का भुगतान मुद्रा के स्थान पर वस्तु के रूप में हो सकता है या फिर उसकी मजदूरी का एक हिस्सा लम्बे समय तक वस्तु भुगतान के रूप में भी हो सकता है। विघटित होते सामंती समाज या

अर्द्धसामंती समाज में देहाती सर्वहारा वर्ग का अभ्युदय होने लगता है। इस तरह इस चर्चा से स्पष्ट है कि हम किसी भूमिहीन व्यक्ति को कब भूमिहीन किसान और कब सर्वहारा की श्रेणी में रखेंगे।

इस तरह मार्क्सवाद हमें क्रांति के निर्धारण के लिए एक ऐसी प्रणाली उपलब्ध कराता है जिसमें मनोगतवाद, अनुभववाद या किसी अन्य देश की क्रांति के अन्धानुकरण का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक देश के क्रांतिकारियों को अपने देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए क्रांति का निर्धारण करना होता है। यहां हमें सबसे अधिक माओ से सीखने की आवश्यकता है जिन्होंने इस प्रणाली का उपयोग करते हुए नवजनवादी क्रांति और दीर्घकालिक लोक युद्व का रास्ता प्रस्तुत किया। माओ के नेतृत्व में इसी कारण चीन में नवजनवादी क्रांति सफल हुई।

क्रांति और सुधार

क्रांति और सुधार के सन्दर्भ में सामान्य मार्क्सवादी प्रस्थापना है कि सुधार क्रांति के उप–उत्पाद होते हैं। इस बात से क्या आशय है?

इस बात से महज यह आशय है कि किसी क्रांतिकारी वर्ग, पार्टी, व्यक्ति के लिए मुख्य चीज सुधार नहीं है। उनका मुख्य काम सुधारों के लिए लड़ना नहीं है। उनके लिए मुख्य चीज क्रांति है। उनका मुख्य काम क्रांति है। सुधार उनके लिए क्रांति के उप–उत्पाद है। वे ऐसे उप परिणाम हैं जो उनके मुख्य काम से निकलते हैं।

अन्य वर्गों के मुकाबले सर्वहारा वर्ग की स्थिति क्रांति और सुधारों के सवालों पर और भी भिन्न होती है। किसी पूंजीवाद समाज में कितने ही छोटे–बड़े सुधार हो जायें, जनवाद का कितना ही विस्तार हो जाये तब भी सर्वहारा वर्ग उजरती गुलाम ही बना रहता है। उसका शोषण जारी रहता है। अधिकतम संभव जनवाद भी पूंजीवादी तानाशाही ही होता है। वह राज्य जिसने अधिकतम लोक कल्याण की नीतियां, कार्यक्रम बनाये हों और उन्हें बिना किसी चूक के ईमानदारी से भी लागू कर रहा हो उसमें भी सर्वहारा उजरती गुलाम ही होता है। शोषण से उसे निजात नहीं मिलती है।

सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की अनिवार्य शर्त है कि पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्ण विनाश हो लेख में प्रचलित शब्दावली के अनुसार पूंजीवादी उत्पादन सम्बंधों के स्थान पर समाजवादी उत्पादन सम्बंध कायम हों। और अपनी बारी में समाजवादी उत्पादन सम्बंध साम्यवादी उत्पादन सम्बंध में तबदील हो जायें।

सोवियत संघ में हुई पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के अनुभव और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के सबक इस बात को स्थापित करते हैं कि पूंजीवाद से साम्यवाद के पूरे संक्रमण काल यानी समाजवाद के काल में भी निरन्तर वर्ग संघर्ष जारी रहता है। निरन्तर क्रांति की आवश्यकता बनी रहती है। समाजवाद का काल भी उथल–पुथल से भरा रहता है। पूंजीवाद की पुर्नस्थापना का खतरा निरंतर बना रहता है। यानी यह पूरा काल ऐसा होता है जिसमें इतिहास की गति कोई सरल रेखीय गति नहीं होती। यानी ऐसा सम्भव नहीं है कि क्रांतियों की श्रृंखला से गुजरे बिना महज सुधारों के जरिये समाजवाद साम्यवाद में रूपान्तरित हो जाये। वर्ग मिट जायें। राज्य का विलोप हो जाय। इस तरह से हम देखें तो सर्वहारा वर्ग अपने ऐतिहासिक मिशन वर्ग विहीन, शोषण विहीन, राज्य विहीन समाज की स्थापना बिना क्रांतिकारी हुए और हमेशा बने रहे बगैर कर ही नहीं सकता है। यानी क्रांतिकारी होना और बने रहना सर्वहारा चरित्रा की परम आवश्यकता है। उसका अभिन्न हिस्सा है। और यह मार्क्सवादी प्रस्थापना कि या तो वह क्रांतिकारी है या फिर कुछ भी नहीं है इतिहास के इस दौर के लिए सही है।

समाज के अन्य वर्गों की तुलना हम जब सर्वहारा वर्ग से करते हैं तो हम पाते हैं कि क्रांतिकारी होना उनका स्थायी नहीं बल्कि अस्थायी और काल विशेष तक सिमटे रहने वाला गुण है। इस बात को समझने के लिए इतिहास के दो प्रमुख वर्ग पूंजीपति वर्ग और किसान वर्ग को लेते हैं।

इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि पूंजीपति वर्ग ने बहुत ही सीमित समय और अर्थों में क्रांतिकारिता का परिचय दिया है। इंग्लैण्ड, ंस, अमेरिका आदि देशों का बीसवीं सदी पूर्व का इतिहास इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। पूंजीपति वर्ग ने इतिहास में वैसे ही अपने को बौना साबित कर दिया जैसे ही सर्वहारा ने क्रांतिकारी रुख और पहलकदमी का परिचय दिया और बहुत जल्द ही अपने उत्थान काल में ही पूंजीपति वर्ग ने प्रतिक्रियावादी वर्गों सामन्तों, जमींदारों, राजशाही से समझौते, सुलह का रुख अपना लिया। 'लुई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर', 'जर्मनी में क्रांति–प्रतिक्रांति' जैसी रचनाओं में मार्क्स–एंगेल्स ने बड़े पूंजीपति वर्ग सहित छोटे व्यवसाईयों तक की भूमिका का सटीक वर्णन किया है। इनके वर्गीय चरित्रा का उचित उद्घाटन किया है। उपरोक्त बात इन रचनाओं का निष्कर्ष है।

किसान पूंजीपति वर्ग के मुकाबले अधिक और लम्बे समय तक क्रांतिकारिता का परिचय देता है। और अक्सर ही जब तक समाज में जनवादी व राष्ट्रीय कार्यभार (सामन्तवाद व साम्राज्यवाद विरोधी) बचे रहते हैं तब तक किसान वर्ग (का मझोला व छोटा हिस्सा) उत्कट क्रांतिकारिता का परिचय दे देते हैं। और यहां तक पूंजीवाद विरोधी क्रांति (समाजवादी क्रांति) में भी किसान मजदूर वर्ग के संश्रयकारी होते हैं। किसानों के विभिन्न समूहों का व्यवहार क्या होगा यह बहुत कुछ उनकी सम्पत्ति की मात्राा और क्रांति के कार्यभारों से तय होता है। धनी किसानों की भूमिका को समझने में, हमें चीन की नवजनवादी क्रांति और उसके बाद चीन द्वारा समाजवाद की ओर कदम बढ़ाने के समय इस वर्ग द्वारा किया गया व्यवहार मदद करता है। सोवियत संघ में, समाजवाद निर्माण के दौरान, जब सामूहिक फार्म स्थापित किये जा रहे थे तब किसानों के मझोले और छोटे हिस्से ने इस कार्यवाही के विरोध में किस्म–किस्म की भूमिका निभायी थी। कई तरह से अड़ंगे डाले थे। इस प्रक्रिया को लम्बा खींचा था। सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व व क्रांतिकारिता के उदाहरण व किसानों के बारे में समाजवादी राज्य की सही नीति ही वह जरिया बनते थे जिससे किसान क्रमशः निजी सम्पत्ति की व्यवस्था से सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था की ओर बढ़े थे।

पूंजीवादी समाज में, सर्वहारा वर्ग की तरह छोटे व मझोले किसानों को तबाही और बर्बादी झेलनी होती है। एक वर्ग के रूप में उन पर निरन्तर संकट मंडरा रहा होता है। सुधारों की लड़ाई उन्हें मुक्ति की ओर नहीं ले जाती है बल्कि उनकी वर्तमान अवस्था को बनाये रखते हुए उनके बीच विभिन्न किस्म के भ्रमों को जन्म देती है। वे भी जब क्रांति को अपना मुख्य काम मानकर आगे बढ़ते हैं तो कुछ सुधार उन्हें उसके उप परिणाम के रूप में प्राप्त होते हैं। इससे उन्हें तात्कालिक तौर पर कुछ राहत हासिल होती है।

यहां सवाल उठ खड़ा होता है कि सुधारों के लिए संघर्ष सर्वहारा वर्ग करेगा या नहीं। या इनके प्रति वह क्या रुख अपनायेगा?

सुधारों के लिए संघर्ष उसका मुख्य काम नहीं बनता है यह ऊपर कही गयी बातों से सुस्पष्ट है। परन्तु ये उसके मुख्य काम के उप उत्पाद होते हैं। इस रूप में उसके हिस्से बनते हैं। इन संघर्षों के जरिये दो अन्य कामों पहला, सर्वहारा वर्ग को लड़ना सिखाना और लम्बी व मूल लड़ाई लड़ने के लिए तैयार करने के साथ–साथ दूसरा काम तात्कालिक राहत दिलाना व बुर्जुआ जनवाद का विस्तार करना होता है।

सुधारों के सम्बन्ध में हमें यहां एक और बात पर भी गौर करना होगा कि मार्क्सवाद अराजकतावादियों और सुधारवादियों दोनों के ही दृष्टिकोण को गलत मानता है। सुधारवादियों की कोशिश जहां यह होती है कि वे मजदूर वर्ग के प्रयासों व गतिविध्यिों को सुधार तक,

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से, सीमित कर देते हैं वहीं अराजकतावादी सुधारों के लिए किये जाने वाले किसी भी तरह के संघर्ष से इंकार कर देते हैं। मार्क्सवाद ऐसे सुधारों के संघर्ष को भी मान्यता देता है जो मेहनतकशों की दशा में सुधार लाते हों परन्तु शासक वर्ग की सत्ता को नष्ट न करते हों।

ऐसे संघर्षों को मान्यता देने के साथ मार्क्सवाद स्पष्ट तौर पर यह भी सिखाता है कि बुर्जुआ वर्ग अक्सर ऐसी नीति अपनाता है जिसमें वह सुधार को 'किन्तु–परन्तु' की ऐसी सीमा में कैद कर देता है जहां वह अक्सर ही निष्प्रभावी हो जाता है। मार्क्सवाद हमें सिखाता है कि पूंजीवाद में सुधार अस्थायी और गौण महत्व के हैं जबकि पूंजी का प्रभुत्व व उसकी उजरती दासता स्थायी है।

शासक वर्ग सुधारों के लिए क्यों तैयार होता है इसका सीधा जवाब है कि ऐसा वह अपने शासन को बनाये रखने और शासित वर्ग में अपना आधार बनाये रखने के लिए करता है। बाज दफे सुधार क्रांतिकारी वर्गों को क्रांति से विमुख कर देने में भी भूमिका निभाते हैं। आम तौर पर शासक वर्ग सुधारों के लिए बेहद मजबूरी में ही तैयार होता है वह भी ऐसे सुधारों के लिए जो क्रांति के उप उत्पाद की भूमिका निभा रहे हों। यानी इन सुधारों के जरिये वह क्रांति की संभावना को खत्म करना चाहता है। जैसा हमें रूस में **1905** में क्रांति के ज्वार के उठने पर जार द्वारा अपनी शासन व्यवस्था में किये गये सुधारों (ड्यूमा की स्थापना आदि) में दिखायी देता है। बीसवीं सदी में ऐसे कई अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जैसा हम पहले कह आये है कि पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण बिना क्रांति के सम्भव नहीं है परन्तु सामन्तवाद से पूंजीवाद में संक्रमण बिना क्रांति के सम्भव है। सुधारों के जरिये ऐसा हो सकता है कि एक सामन्ती समाज क्रमशः पूंजीवादी समाज में तबदील हो जाये। ऐसे संक्रमणशील समाज में जिसमें सुधारों के जरिये पूंजीवाद स्थापित हो रहा होगा सर्वहारा वर्ग और उसके प्रतिनिध्यिों को वस्तुगत यथार्थ को अपने संज्ञान में लेना होगा। "ासमान और विकासमान प्रवृतियों को पहचानना होगा और इन आधार पर क्रांति के प्रहार के लक्ष्यऋ क्रांति की प्रेरक शक्तियोंऋ क्रांति के स्वरूपऋ क्रांति के भविष्य को तय करना होगा। इस आधार पर ही अपनी रणनीति व रणकौशल को तय करना होगा।

ऐसा न करने की स्थिति में एक ऐसी क्रांति की मंजिल क्रांतिकारियों द्वारा तय की जा रही होगी जिसका समय बीत चुका होगा। ऐतिहासिक परिस्थिति में परिवर्तन आ चुका होगा। अब उनके द्वारा की जा रही कार्यवाहियां क्रांति के नहीं सुधार के दायरे में आ रही होंगी। और वे वस्तुगत तौर पर सुधारवादी साबित हो रहे होंगे। या दूसरे शब्दों में उनकी क्रांतिकारिता या जुझारू कार्यवाहियां उन मुद्दों या क्षेत्रों को उजागर कर रही होंगी जहां सुधारों की आवश्यकता है। शासक वर्ग इन्हें पहचान कर अपनी ओर से अथवा क्रांतिकारियों व जनता द्वारा पैदा किये गये दबाव के कारण सुधारों को अंजाम दे सकता है। और अपनी व्यवस्था को दीर्घजीवी कर सकता है। उसकी सुरक्षा कर सकता है। यहां न चाहते हुए भी क्रांतिकारियों का मुख्य काम क्रांति न होकर वस्तुगत तौर पर सुधार बन जाता है। अतः क्रांतिकारियों के लिये यह आवश्यक है कि सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण करते समाज में वस्तुगत यथार्थ "ासमान व विकासमान प्रवृतियों की स्पष्ट पहचान करें। ठीक–ठीक वर्गीय विश्लेषण करें। वे आत्मगत तौर पर ही नहीं बल्कि वस्तुगत तौर पर क्रांतिकारी बने रहें।

जनवादी क्रांति और सर्वहारा वर्ग

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के इतिहास ने इस बात को स्थापित किया है कि किसी भी वर्ग की तुलना में सर्वहारा वर्ग, जनवादी क्रांति की किसी भी श्रेणी (बुर्जुआ जनवादी) या नव जनवादी में अधिक दृढ़ता पूर्वक तथा सुसंगत ढंग से सक्रिय रहता है। सर्वहारा वर्ग बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने में सबसे आगे रहता है। उसकी पूरी कोशिश होती है कि क्रांति मुकम्मिल ढंग से पूरी हो।

बुर्जुआ जनवादी क्रांति के दौर में जब सर्वहारा वर्ग इन क्रांतियों का नेतृत्व नहीं कर रहा था तब भी वह किसी भी अन्य वर्ग के मुकाबले अधिक दृढ़ता व साहस का परिचय दे रहा था। एंगेल्स ने **1848** में जर्मनी में हुई क्रांति के समय मजदूर वर्ग की भूमिका का वर्णन अन्य वर्गों द्वारा निभायी गयी भूमिका के सापेक्ष बहुत बढ़िया ढंग से किया है। एंगेल्स लिखते हैंऋ

> ''मजदूर वर्ग इस विद्रोह में उसी तरह शामिल हुआ जिस तरह वह किसी भी अन्य विद्रोह में शामिल होता जो या तो राजनीतिक प्रभुत्व और सामाजिक क्रांति की ओर उसकी अग्रगति की राह से बाधा हटाने या फिर समाज के अधिक प्रभावशाली परन्तु कम साहसी वर्गों को उससे ज्यादा निश्चित और क्रांतिकारी मार्ग से बांधे रखने का वायदा करता जिस पर वे अब तक चलते आये थे। ***मजदूर वर्ग ने इस बात की पूरी जानकारी के साथ हथियार उठाये थे कि जहां तक उसके प्रत्यक्ष लक्ष्य का सम्बंध है, यह उसकी अपनी लड़ाई नहीं थी।*** परन्तु उसने अपनी एकमात्रा सच्ची कार्यनीति का अनुसरण किया। यह कार्यनीति थी– किसी भी ऐसे वर्ग को, जो उसके कंधों पर खड़ा हो (जैसे पूंजीपति वर्ग ने **1848** में किया था) अपनी वर्ग प्रभुता तब तक सुदृढ़ न बनाने देना, जब तक मजदूर वर्ग के लिए कम से कम अपने हितों के वास्ते संघर्ष करने की काफी गुंजाइश न रहे। कुछ भी हो, मजदूर वर्ग ने इस लक्ष्य का अनुसरण किया कि हालात को संकट के बिन्दु पर पहुंचा दिया जाये जिसके जरिये या तो राष्ट्र को दृढ़तापूर्वक तथा अरोध्य ढंग से क्रांतिकारी पथ पर आगे बढ़ाया जा सके या फिर क्रांति से पहले का **statusquo** फिर से यथासंभव कायम किया जा सके। दोनों मामलों में मेहनतकश वर्ग समूचे राष्ट्र के वास्तविक तथा सुस्पष्ट हित का प्रतिनिधित्व कर रहे थे– क्रांतिकारी प्रवाह की रफ़्तार को यथा सम्भव तेज करना, जो सभ्य यूरोप के पुराने समाजों के लिए अब ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया है, और जिसके बिना उनमें से कोई भी अपनी शक्तियों से अधिक निर्विघ्न तथा नियमित विकास की कल्पना नहीं कर सकता।
>
> {ैडरिक एंगेल्स, 'जर्मनी में क्रांति तथा प्रतिक्रांति' पेज **106–107**,खण्ड **.1,** भाग **.2,** मार्क्स–एंगेल्स की सं.र. तीन खण्डों में, प्र.प्र.मास्को, जोर हमारा}

मजदूर वर्ग के इस वर्णन के साथ एंगेल्स ने सभी वर्गों की भूमिका का वर्णन किया है। छात्रा क्या कर रहे थे (शुरु में साथ दिया परन्तु हालात के गम्भीर होते ही यह रंग–बिरंगी भीड़ जल्द ही छंट गयी) तो छोटे व्यवसायी की भूमिका मई **1849** में नेतृत्वकारी थी। खेतिहर मजदूर शहर के मजदूर के साथ थे तो छोटे किसानों की प्रवृति छोटे दुकानदारों के साथ चलने की थी। निम्न पूंजीपति वर्ग के बारे में एंगेल्स लिखते हैं कि 'डींगें हांकने में बहुत आगे होता है, लेकिन कार्यकलाप में बहुत अशक्त होता है तथा कोई भी जोखिम उठाने से बहुत दूर भागता है'। निम्न पूंजीपति वर्ग ने इस पूरे काल में यही व्यवहार किया था।

चीन में नवजनवादी क्रांति के दौर में चीनी सर्वहारा की भूमिका के बारे में माओ ने लिखा कि वह चीनी क्रांति की मूल प्रेरक शक्ति है। चीन की नवजनवादी क्रांति के इतिहास ने माओ की इस बात को स्थापित किया कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के बिना चीन की क्रांति कभी सफल नहीं हो सकती थी। 'चीनी क्रांति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी' नामक लेख में माओ पहले सर्वहारा वर्ग की बुनियादी खूबियां गिनाने के बाद चीन के सर्वहारा वर्ग की खूबियां गिनाते हैं।

माओ लिखते हैं, ''हर जगह के सर्वहारा वर्ग की इन बुनियादी खूबियों–अर्थव्यवस्था के सबसे उन्नत रूप के साथ सम्पर्क होना, संगठन और अनुशासन की प्रबल भावना होना और निजी उत्पादन साधन न होना–के अलावा चीनी सर्वहारा वर्ग की अपनी भी बहुत सी खास खूबियां है।

''वे खूबियां कौन सी हैं?

''पहले, चीनी सर्वहारा वर्ग क्रांतिकारी संघर्ष में किसी दूसरे वर्ग की तुलना में कहीं अधिक दृढ़ता के साथ और कहीं अधिक मुकम्मिल तौर पर जुटा हुआ है क्योंकि वह तिहरे उत्पीड़न (साम्राज्यवाद, पूंजीपति वर्ग और सामंती शक्तियों के उत्पीड़न) का शिकार है, एक ऐसे उत्पीड़न का जिसके समान बर्बरता और क्रूरता दुनिया के किसी देश में शायद ही देखने को मिले। चूंकि औपनिवेशिक व अर्ध औपनिवेशिक चीन में यूरोप की तरह सामाजिक सुधारवाद का कोई आर्थिक आधार नहीं, इसलिए थोड़े से मजदूर–द्रोहियों को छोड़कर समूचा सर्वहारा वर्ग अत्यंत क्रांतिकारी है।

''दूसरे, चीनी सर्वहारा वर्ग ने ज्यों ही क्रांति के मंच पर कदम रखा, वह अपनी क्रांतिकारी पार्टी–चीनी कम्युनिस्ट पार्टी–के नेतृत्व में आ गया और चीनी समाज में राजनीतिक तौर पर सबसे जागरूक वर्ग बन गया।

''तीसरे चूंकि चीनी सर्वहारा वर्ग का जन्म ज्यादातर दीवालिया किसानों से हुआ है, इसलिए किसान जन–समुदाय से उसका स्वाभाविक सम्बंध है, जिससे किसानों के साथ घनिष्ठ संश्रय स्थापित करना उसके लिए सहज है।'' {माओ,'चीनी क्रांति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी, पेज **572.573ए** खण्ड**.2ए** माओ की सं.र., विदेशी प्रकाशन गृह पेकिंग}

एंगेल्स और माओ के उपरोक्त उद्धरणों से यह बात सुस्पष्ट है कि जनवादी क्रांति की दोनों ही श्रेणियों में सर्वहारा वर्ग क्रांतिकारी संघर्ष में किसी भी दूसरे वर्ग से अधिक क्रांतिकारिता, दृढ़ता व अन्तिम मुकाम तक क्रांति को पहुंचाने का परिचय देता है। सर्वहारा वर्ग की इस भूमिका को न समझने के कारण पिछली सदी के सत्तर के दशक में भारत के क्रांतिकारियों के बड़े हिस्से ने ठीक रास्ते का अनुसरण नहीं किया। वे सर्वहारा वर्ग की जनवादी क्रांतियों की विभिन्न श्रेणियों में अतीत में निभायी गयी भूमिका से अपने लिये उचित मार्ग निर्देशन नहीं प्राप्त कर सके। और हम जानते हैं कि यह गलती किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन में जारी है (यहां हम भारत की क्रांति की मंजिल के बदल जाने के सवाल को नहीं उठा रहे हैं)।

यहां यह सवाल उठना लाजिमी है कि जनवादी क्रांति में सर्वहारा वर्ग क्यों शिरकत करता है। क्यों जनवादी क्रांति सर्वहारा वर्ग के लिए हितकर होती है? साथ ही इस सवाल पर भी विचार की आवश्यकता है कि मजदूर वर्ग के लिए यह क्यों अधिक लाभदायक होता है कि सामंतवाद से पूंजीवाद में परिवर्तन सुधारों के बजाय क्रांति के जरिये हो या दूसरे शब्दों में इसी बात को इस तरह से कहा जा सकता है कि बुर्जुआ जनवादी क्रांति (अथवा नव जनवादी क्रांति) के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यभारों का क्यों सुधारों के बजाय क्रांति के द्वारा सम्पन्न होना सर्वहारा वर्ग के लिए सबसे अधिक उचित होता है?

इन सवालों का जवाब बहुत अच्छे ढंग से लेनिन ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक–जनवाद की दो कार्यनीतियां' में दिया है।

इस पुस्तक में एक स्थान पर लेनिन इस बात का खण्डन करते हैं कि बुर्जुआ क्रांति सिर्फ बुर्जुआ वर्ग के लिए फायदेमंद होती है और मजदूर वर्ग के हितों को व्यक्त नहीं करती है। लेनिन बुर्जुआ क्रांति की सीमा को स्पष्ट करते हुए लिखते है कि यह पूंजीवादी सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था के दायरे में ही रहती है परन्तु इसके बावजूद यह सर्वहारा वर्ग के हित में होती है क्योंकि यह पूंजीवाद की बुनियाद को चौड़ा और गहरा बना देती है। पूंजीवाद की बुनियाद का चौड़ा व गहरा होना, बुर्जुआ राजनीतिक स्वतंत्राता का हासिल होना सर्वहारा के हित में है यद्यपि यह सच है कि पूंजीवादी व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग के ऊपर पूंजीपति वर्ग की तानाशाही कायम होती है।

लेनिन लिखते हैं,

''नव 'ईस्का' पंथी प्रवर्ग के रूप में बुर्जुआ क्रांति के अर्थ तथा महत्व को बिल्कुल गलत ढंग से समझते हैं। उनकी दलीलों में लगातार यह विचार प्रतिध्वनित होता रहता है कि बुर्जुआ क्रांति एक ऐसी क्रांति होती है, जो केवल बुर्जुआ वर्ग के लिये ही हितकर हो सकती है। फिर भी इस विचार से अधिक गलत कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। बुर्जुआ क्रांति एक ऐसी क्रांति होती है, जो बुर्जुआ, अर्थात पूंजीवाद के विकास की आवश्यकताओं को व्यक्त करती है और पूंजीवाद की बुनियादों को नष्ट करना तो दूर, इससे बिल्कुल ही उल्टी बात करती है, वह इन्हें चौड़ा तथा गहरा बना देती है। इसलिए यह क्रांति न केवल मजदूर वर्ग के हितों को, बल्कि पूरे बुर्जुआ वर्ग के हितों को भी व्यक्त करती है। चूंकि पूंजीवाद के अर्न्तगत मजदूर वर्ग पर बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व अनिवार्य है, इसलिए यह कहना बिलकुल सही है कि बुर्जुआ क्रांति उस हद तक सर्वहारा वर्ग के हितों की अभिव्यक्ति नहीं करती, जिस हद तक कि वह बुर्जुआ वर्ग के हितों की अभिव्यक्ति करती है। परंतु यह सोचना बिल्कुल बेतुकी बात है कि बुर्जुआ क्रांति सर्वहारा वर्ग के हितों की अभिव्यक्ति करती ही नहीं। इस बेसिर–पैर के विचार का कुल निचोड़ या तो यह पुराना नरोदवादी सिद्वान्त है कि बुर्जुआ क्रांति सर्वहारा वर्ग के हितों के खिलाफ होती है, इसलिए हमें बुर्जुआ राजनीतिक स्वतंत्राता की कोई जरूरत नहीं हैऋ या फिर इसका निचोड़ अराजकतावाद है, जो सर्वहारा वर्ग का बुर्जुआ राजनीति में, बुर्जुआ क्रांति में और बुर्जुआ संसद–पद्वति में किसी भी प्रकार भाग लेना अस्वीकार करता है। सिद्वान्त के दृष्टिकोण से यह विचार माल–उत्पादन के आधार पर पूंजीवादी विकास की अनिवार्यता की मार्क्सवाद की बुनियादी प्रस्थापनाओं की अवहेलना करता है। मार्क्सवाद सिखाता है कि वह समाज, जो माल–उत्पादन पर आधारित है और जिसका पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ वाणिज्यिक संबंध है, अपने विकास की निश्चित मंजिल में पहुंचकर अनिवार्य रूप से पूंजीवाद का पथ अपना लेता है।'' (लेनिन, 'सामाजिक–जनवाद की दो कार्यनीतियां,' पृष्ठ **56.57,** खण्ड **.3,** संकलित रचनाएं, दस खण्डों में, प्र.प्र.मास्को)

यहां लेनिन सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ राजनीतिक स्वतंत्राता को तुच्छ समझने के दृष्टिकोण की अराजकतावाद कहकर 'भर्त्सना' करते हैं और इससे आगे तो वे राजनैतिक–अर्थशास्त्रा की दृष्टि से माल उत्पादन के आधार पर पूंजीवादी विकास की अनिवार्यता को न स्वीकारने को मार्क्सवाद की अवहेलना करार देते हैं।

लेनिन मानते हैं कि यह सर्वहारा वर्ग के हित में है कि पूंजीवाद का विकास क्रांतिकारी ढंग से हो। वह सर्वाधिक व्यापक, सर्वाधिक उन्मुक्त तथा सर्वाधिक वेगमय हो। यह जितना ऐसा होगा उतना ही सर्वहारा वर्ग के हित में होगा। इसी पुस्तक में लेनिन लिखते हैं,

''... रूस जैसे देशों में मजदूर वर्ग पूंजीवाद के कारण उतना त्रास्त नहीं रहता, जितना पूंजीवाद के अपर्याप्त विकास के कारण। इसलिए मजदूर वर्ग को पूंजीवाद के सर्वाधिक व्यापक, सर्वाधिक उन्मुक्त तथा सर्वाधिक वेगमय विकास में ***निश्चित रूप से दिलचस्पी है।*** पुरानी व्यवस्था के उन सभी अवशेषों को हटाना, जो पूंजीवाद के व्यापक, उन्मुक्त तथा वेगमय विकास में बाधा डाल रहे हैं, मजदूर वर्ग के लिए निश्चित रूप से ***हितकर*** हैं। बुर्जुआ क्रांति बिल्कुल ऐसी क्रांति होती है, जो सर्वाधिक दृढ़ रूप से अतीत के अवशेषों का, भूदासता के अवशेषों का (जिनमें केवल एकतंत्रा ही नहीं, बल्कि राजतंत्रा भी शामिल है) सफाया कर देती है और जो पूंजीवाद के सर्वाधिक व्यापक उन्मुक्त तथा सर्वाधिक वेगमय विकास की पूर्णतम रूप से गारंटी प्रदान करती है।

''यही कारण है कि ***बुर्जुआ*** क्रांति ***सर्वहारा वर्ग के लिए अधिकतम हितकर*** है। बुर्जुआ क्रांति सर्वहारा वर्ग के हित में ***नितांत*** आवश्यक है बुर्जुआ क्रांति जितनी ही अधिक पूर्ण तथा निश्चयात्मक, जितनी ही अधिक सुसंगत होगी, बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ समाजवाद के लिए सर्वहारा वर्ग का संघर्ष भी उतना ही सुनिश्चित होगा। केवल वे ही लोग इस निष्कर्ष को नया, विचित्रा अथवा विरोधाभासपूर्ण समझ सकते हैं, जो वैज्ञानिक समाजवाद की बुनियादी बातों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। फिर इसी निष्कर्ष में से और बातों के अलावा यह प्रस्थापना निकलती है कि ***एक खास अर्थ में*** बुर्जुआ क्रांति बुर्जुआ वर्ग की अपेक्षा सर्वहारा वर्ग के लिए ***अधिक हितकर*** होती है। यह प्रस्थापना निम्नलिखित अर्थ में निस्संदिग्ध हैः बुर्जुआ वर्ग के लिए यह बात हितकर होती है कि वह सर्वहारा वर्ग के खिलाफ अतीत के कुछ अवशेषों का सहारा ले, उदाहरण के लिए, राजतंत्रा, स्थायी सेना, आदि का। बुर्जुआ वर्ग के लिए यह हितकर होगा कि बुर्जुआ क्रांति अतीत के सभी अवशेषों का जरूरत से ज्यादा दृढ़ता के साथ सफाया न कर दे, बल्कि कुछ अवशेषों

को शेष रहने दे, अर्थात् वह क्रांति पूरी तरह सुसंगत न हो, पूर्ण न हो, निर्णयात्मक तथा निर्मम न हो। सामाजिक–जनवादी इस विचार को यह कहकर बहुधा कुछ दूसरे ढंग से व्यक्त करते हैं कि बुर्जुआ वर्ग स्वयं अपने साथ विश्वासघात करता है, कि बुर्जुआ वर्ग स्वाधीनता के हेतु के साथ विश्वासघात करता है, कि बुर्जुआ वर्ग में सुसंगत रूप से जनवादी होने की क्षमता ही नहीं होती। यह बुर्जुआ वर्ग के लिए अधिक हितकर होगा कि बुर्जुआ–जनवादी दिशा में आवश्यक परिवर्तन अधिक मंद गति से, अधिक क्रमगत ढंग से, अधिक सर्तकता के साथ, कम दृढ़ता के साथ, क्रांति द्वारा नहीं, बल्कि सुधारों द्वारा होऋ कि वे परिवर्तन आम जनता की, अर्थात किसानों की और खास तौर पर मजदूरों की स्वतंत्रा क्रांतिकारी हलचल, पहलकदमी तथा शक्ति को यथासंभव कम से कम विकसित करें, नहीं तो मजदूरों के लिए यह कहीं ज्यादा आसान हो जायेगा कि वे, जैसा कि नंसिसी कहते हैं, ''बंदूक एक कंधे से हटाकर दूसरे कंधे पर रख लें,'' अर्थात बुर्जुआ क्रांति जो हथियार उनके हाथ में देगी, क्रांति के फलस्वरूप जो स्वतंत्राता मिलेगी और भूदासता से साफ की गयी जमीन पर जो जनवादी संस्थाएं जन्म लेंगी, उन सब को वे बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ इस्तेमाल करें। (वही, जोर मूल में पृष्ठ**.58–59**)

इस लम्बे उद्धरण में जिन बातों को विशेष तौर पर गौर किया जाना चाहिये वे इस प्रकार बनती हैं। पहली, बुर्जुआ क्रांति सर्वहारा वर्ग के हित में इसलिए होती है कि वह सामन्तवाद का तेजी से सफाया करके पूंजीवाद के व्यापक, उन्मुक्त तथा वेगमय विकास का रास्ता खोल देती है। जितनी ही दृढ़ता से यह भूदासता के अवशेषों व अन्य अतीत के अवशेषों का सफाया करती हैं उतना ही अब सर्वहारा वर्ग के लिए यह संभव हो जाता है कि वह अपने संघर्ष को पूंजीपति वर्ग के खिलाफ केन्द्रित कर सके। सर्वहारा वर्ग को अब अतीत के कार्यभारों को निपटाने के स्थान पर वर्तमान के कार्यभारों को निपटाने के लिए ज्यादा उपयुक्त जमीन हासिल हो जाती है। सर्वहारा व पूंजीपति वर्ग का संघर्ष स्पष्ट और प्रखर हो जाता है। इसके साथ ही एक सफल बुर्जुआ क्रांति के बाद ऐसी जनवादी संस्थायें जन्म ले लेती हैं जिनका इस्तेमाल करके सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के शासन की पोल खोल सकता है। बुर्जुआ नारों के वास्तविक अंतर्य को उजागर कर सकता है। इन अर्थों में ये जनवादी संस्थायें वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने का एक साधन, एक माध्यम बन जाती हैं। '''वामपंथी'' कम्युनिज्म–एक बचकाना मर्ज' में लेनिन ऐसी ही संस्थाओं के इस्तेमाल न करने को ''वामपंथी'' बचकाना मर्ज बतलाते हैं।

दूसरी बात, यहां यह महत्वपूर्ण है कि सर्वहारा वर्ग का हित जहां इसमें है कि अतीत के अवशेष पूर्णतया समाप्त हो जायें वहां पूंजीपति वर्ग अतीत के अवशेषों को इस हद तक बनाकर रखना चाहता है जिससे वह सर्वहारा वर्ग के खिलाफ इनका इस्तेमाल करके अपने वर्गीय हितों को साध सके। अतीत के अवशेषों को बनाये रखने के लिए बुर्जुआ वर्ग ''बुर्जुआ क्रांति से ही विश्वासघात कर'' देता है। वह क्रांति को उसकी चरम परिणति में नहीं पहुंचने देता है और वह वहां तक पहुंच सके उसके पहले ही वह रुक जाता है, अतीत के अवशेषों को बनाये रखता है। उन्नीसवीं व बीसवीं सदी के कई देशों के उदाहरण हमारे सामने हैं जहां हम पाते हैं कि वह सामंती तत्वों से समझौता कर लेता है। राजतंत्रा को मान्यता देता है। सामंती तत्वों से बुर्जुआ वर्ग का यह समझौता मजदूर वर्ग व अन्य क्रांतिकारी मेहनतकश आवाम के खिलाफ होता है। जहां मजदूर व अन्य मेहनतकशों की प्रवृत्ति बुर्जुआ नारों (आजादी, बराबरी, भाईचारा) को उनके वास्तविक अंतर्य तक पहुंचाने की होती है वहां पूंजीपति वर्ग की प्रवृत्ति उन्हें औपचारिक आवरण तक पहुंचाने तक ही सीमित होती है। इस औपचारिक स्वीकार्यता को भी बड़े पूंजीपति वर्ग द्वारा अपनी पूंजी व राजसत्ता की ताकत के द्वारा बेहद सीमित कर दिया जाता है और उन अवसरों पर इसे समाप्त कर दिया जाता है जब वह अपने शासन को किसी संकट में पाता है या किसी दूसरी राजसत्ता से युद्वरत होता है।

तीसरी बात, यहां यह गौर करने की है कि बुर्जुआ वर्ग के लिए यह अधिक हितकर होता है। कि वह क्रांति के बजाय सुधारों का रास्ता अपनाये यहीं हमें पिछली सदी में पूंजीपति वर्ग का आम व्यवहार दिखायी देता है। यहां मजदूर वर्ग के हित व व्यवहार पूंजीपति वर्ग के ठीक उल्टा होता है। उसके हित सुधारों की अपेक्षा क्रांति से सधते हैं व उसका व्यवहार सुसंगत क्रांतिकारी का होता है। पूंजीपति वर्ग फूंक–फूंक कर कदम रखता है और बुर्जुआ क्रांति के कार्यभारों को पूरा करने में क्रांति के स्थान पर सुधारों का रास्ता इसलिए भी अपना लेता है कि उसे यह डर रहता है कि क्रांति का रास्ता अपनाने के समय वह जिन वर्गों (मजदूर व किसान) को अपने साथ लेगा वे कहीं उसे धकियाकर अपना शासन न कायम कर लें। बुर्जुआ अधिनायकत्व के स्थान पर कहीं क्रांतिकारी वर्गों का संयुक्त अधिनायकत्व न कायम कर लें। जैसा बीसवीं सदी में चीन, वियतनाम जैसे कई देशों में हुआ। आगे अपनी इसी पुस्तक में लेनिन बतलाते हैं कि सुधारों के जरिये होने वाले परिवर्तन की सबसे पहले व सबसे अधिक पीड़ा मजदूरों व किसानों को ही झेलनी पड़ती है। लेनिन लिखते हैं–

> ''इसके विपरीत मजदूर वर्ग के लिए यह ज्यादा लाभकर होगा कि ***बुर्जुआ जनवादी दिशा में आवश्यक परिवर्तन सुधारों के जरिये नहीं, बल्कि क्रांति के जरिये हों, क्योंकि सुधार का रास्ता विलंब का, टाल–मटोल का, राष्ट्र के शरीर के सड़ते हुए अंगों के बहुत कष्टमय ढंग से धीरे–धीरे गलने का रास्ता है। इस गलन के कारण सबसे पहले और सबसे अधिक विपदायें सर्वहारा वर्ग तथा किसानों को सहनी पड़ती हैं।*** क्रांतिकारी रास्ता सड़े हुए अंगों को जल्दी से काट देने का रास्ता है, जो सर्वहारा वर्ग के लिए ***सबसे कम कष्टदायक*** होता है, वह सड़ते हुए भागों को तत्काल अलग कर देने का रास्ता, राजतंत्रा को उससे सम्बद्व घृणास्पद, दूषित, सड़ी हुई तथा विष फैलाने वाली संस्थाओं को कम से कम रियायतें देने का और उनके साथ कम से कम नरमी बरतने का रास्ता है।'' (वही, पेज **59,** पैरा–**2,** जोर हमारा)

इस तरह से लेनिन अपनी पुस्तक में यह बात स्थापित करते हैं कि बुर्जुआ–जनवादी कार्यभारों को पूरा करना सर्वहारा वर्ग के हित में है और उसे इसका जिम्मा बुर्जुआ वर्ग के ऊपर छोड़ने के बजाय स्वयं अपने ऊपर लेना चाहिये। उसे सुधारों के रास्ते के स्थान पर क्रांति का रास्ता अपनाना चाहिए क्योंकि यह रास्ता सबसे छोटा होता है। क्रांति सबसे कम समय लेने वाला और सबसे कम कष्टदायक रास्ता है।

लेनिन की उपरोक्त बातों (अथवा बोल्शेविकों की नीति) का उस समय मेन्शेविकों ने यह कहकर विरोध किया था कि क्योंकि रूस में इस समय (**1905** में) क्रांति का चरित्रा पूंजीवादी क्रांति का है इसलिए उदारपंथी पूंजीपति के नेतृत्व में क्रांति होगी अतः सर्वहारा वर्ग को उसका नेतृत्व स्वीकारना चाहिए और अपने क्रांतिकारी जोश का परिचय देने से बचना चाहिये क्योंकि इससे नेतृत्वकारी डर जायेगा और क्रांति के रास्ते से हट जायेगा। उसके क्रांति के रास्ते से हटते ही क्रांति कमजोर पड़ जायेगी।

खैर! आज हमें पता है कि इतिहास ने साबित किया कि बोल्शेविक सही थे और मेन्शेविक गलत। इसने यह भी साबित किया कि पूंजीपति वर्ग ने कदम–कदम पर बुर्जुआ जनवादी क्रांति से ही पलायन और भीरुता का परिचय दिया। बोल्शेविकों के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग ने फुर्ती से 'बंदूक एक कन्धे से उठाकर दूसरे कंधे में रख लीं' थी।

अब हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें कि आज इन बातों का महत्व किन अर्थों में हैं। सबसे पहले तो यह कि सर्वहारा वर्ग की जनवादी क्रांतियों के विभिन्न श्रेणियों में निभायी गयी क्रांतिकारी भूमिका को स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया जाय और उसकी पिछली सदी में अक्टूबर क्रांति के बाद से कायम नेतृत्वकारी भूमिका को मार्क्सवादी नजरिये से समझकर आवश्यक निष्कर्ष निकाले जायें। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हम एक ऐसे युग में जी रहे हैं जिसमें क्रांति की मंजिल भले ही कोई हो उसका नेतृत्व सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है। सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के बिना कोई क्रांति सम्भव नहीं है। यह बात दुनिया के उन समाजों पर भी लागू होती है जहां अभी भी प्रचुर मात्राा में प्राक्पूंजीवादी सरंचनायें मौजूद हैं या जहां पर अभी भी क्रांति की मंजिल नव जनवादी क्रांति की हो। जिन समाजों में क्रांति की मंजिल समाजवादी क्रांति की हो वहां तो सर्वहारा के नेतृत्व पर 'किन्तु–परन्तु' का कोई अर्थ ही नहीं है।

दूसरी बात यह कि जिन समाजों में पूंजीवाद का विकास क्रांति के बजाय सुधारों के जरिये हुआ वहां इसके कारण सबसे अधिक कष्ट व पीड़ा सर्वहारा वर्ग और किसानों सहित अन्य मेहनतकश वर्ग को उठानी पड़ी है। क्रांति जहां उनके लिए वरदान होती वहां सुधार उनके लिये अभिशाप बन गये। भारत के क्रांतिकारी इस बात को बहुत तीक्ष्णता से महसूस करते हैं कि सुधारों के जरिये होने वाले पूंजीवादी विकास ने भारत के सर्वहारा व अन्य मेहनतकश वर्गों से कितनी बड़ी कीमत वसूल ली है। लेनिन की यह बात कि सुधारों का रास्ता राष्ट्र के शरीर के सड़ते हुए अंगों के बहुत कष्टमय ढंग से धीरे–धीरे गलन का रास्ता है, कि इस रास्ते के कारण सबसे अधिक व सबसे पहले विपदायें सर्वहारा व किसानों को सहनी पड़ती है, को भारत की क्रांतिकारी शक्तियों से अधिक कौन महसूस कर सकता है। भारत में इस बात का कदाचित यह बुरा नतीजा भी निकला कि (सुधारों के स्थान पर क्रांति के पक्षधर होने के कारण) क्रांतिकारियों ने सुधारों के जरिये हुए पूंजीवादी विकास को मानने से ही इंकार कर दिया। नतीजा यह है कि क्रांति की मंजिल बदल जाने के बाद भी क्रांतिकारियों का बड़ा समूह क्रांति की बुर्जुआ–जनवादी मंजिल की तैयारियों में ही लगा हुआ है।

सुधारों के जरिये पूंजीवादी विकास

मार्क्सवाद हमेशा से मानता रहा है कि रहा है कि एक सामन्ती, अर्द्व–सामन्ती समाज बिना क्रांति हुए भी सुधारों के जरिये पूंजीवादी समाज में तब्दील हो सकता है। सुधारों से कितनी भी क्रांतिकारी घृणा रखी जाय परन्तु उन्हें यथातथ्य के बतौर क्रांतिकारियों को अपने संज्ञान में लेना ही होता है। सुधारों को संज्ञान में लेना और उसके आधार पर अपनी नीति तय करना और सुधारवादी होना दो अलग–अलग बातें हैं। अक्सर सुधारों को संज्ञान में लेने को या इनके आधार पर समाज में आये परिवर्तनों के आधार पर रणनीति अथवा रणकौशल में परिवर्तन को सुधारवाद मान लिया जाता है। यह गलत है। मार्क्सवाद एक विचारधारा या कार्यनीति के रूप में सुधारवाद को बुर्जुआ धोखाधड़ी मानता है। यह अपने परिणाम के तौर पर पूंजीवादी व्यवस्था या दूसरे शब्दों में मजदूरों को उजरती गुलाम बनाये रखता है।

सुधारवाद के बारे में उपरोक्त मार्क्सवादी प्रस्थापना के बाद अब पुनः इस विषय पर विचार किया जाय कि यह कैसे संभव होता है कि एक सामन्ती, अर्द्वसामन्ती समाज बिना क्रांति के भी पूंजीवादी समाज में तब्दील हो जाता है। वैसे संक्षेप में लेख में पहले भी चर्चा की जा चुकी है कि पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध सामन्तवाद में भी जन्म लेने लगते हैं। और इस बात की संभावना मौजूद रहती है कि ये सम्बन्ध क्रमशः अपने को मजबूत करते जायें और सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों का स्थान ले लें। एक समय तक ऐसा हो सकता है कि सामन्ती व पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध साथ–साथ बने रहें परन्तु पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्ध जो कि इस समय प्रगतिशील व विकासमान होंगे अंततः "ासमान सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों को क्रमशः गौण बनाते हुए अप्रासंगिक बना देंगे और एक लम्बे काल खंड के बाद ये सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध लुप्त हो जायेंगे। यह सब कुछ बिना किसी क्रांति के घटे सम्भव हो सकता है। यह इसलिए भी सम्भव हो जाता है कि क्योंकि सामन्ती और पूंजीवादी दोनों ही उत्पादन सम्बन्ध निजी सम्पत्ति पर आधारित हैं। यहां बस होता यह है कि एक तरह के निजी मालिकाने का स्थान दूसरी तरह का निजी मालिकाना ले लेता है। इसलिए यहां क्रांति होना आवश्यक नहीं है।

जहां तक राजसत्ता क सवाल है उसमें भी यही परिघटना जन्म ले सकती है जो आधार (उत्पादन सम्बन्धों) में घटती है। यानी पूंजीवति वर्ग सुधारों व संघर्ष के एक लम्बे सिलसिले के जरिये राजसत्ता को अपने हाथ में ले ले और सामन्ती वर्ग खोती हुयी वर्ग हैसियत के साथ अपनी सत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथ में गंवा बैठे। सत्ता से च्युत हुआ सामंत औपचारिक तौर पर राष्ट्र प्रमुख दशकों क्या सदियों तक बना रह सकता है। ब्रिटेन, स्पेन, जापान जैसे देशों में आज भी राष्ट्र प्रमुख का पद जो कि महज औपचारिक है महारानी या राजा के पास है। इस राष्ट्र प्रमुख के पास नाममात्रा की भी शक्तियां नहीं हैं।

यहां जिस बात को हम पहले कह आये उसे मात्रा दुहरा लें कि पूंजीपति वर्ग के लिए क्रांति अथवा सुधार दोनों ही स्थितियों में यह हितकर हो सकता है कि वह समाज के नये व प्रमुख उत्पादक वर्ग सर्वहारा वर्ग के खिलाफ सामंती संस्थाओं व अवशेषों का सहारा लें। ऐसी संस्थाओं में एक व सबसे प्रमुख स्थायी सेना को वह बनाकर रखे और इस स्थायी सेना का इस्तेमाल वह अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने के लिये करे। इस स्थायी सेना को सर्वहारा वर्ग की ओर लक्षित कर दे। ऐसा नहीं है कि सामंती युग की सेना ज्यों की त्यों बनी रहेगी बल्कि पूंजीपति वर्ग अपनी वर्गीय शासन की जरूरत के अनुरूप उसमें यथोचित सुधार भी करेगा। ऐसा ही पूंजीपति वर्ग नौकरशाही के साथ भी कर सकता है। इन सामन्ती संस्थाओं, स्थायी सेना व नौकरशाही के इतर पूंजीपति वर्ग धार्मिक व अन्य मध्ययुगीन संस्थाओं व मूल्यों को न केवल बना कर रख सकता है बल्कि उन्हें प्रश्रय देकर अपने वर्गीय शासन को सुदृढ़ करने के लिए प्रयोग कर सकता है।

सुधारों के जरिये पूंजीवाद के विकास की संभावना रूस में लेनिन ने बार–बार व्यक्त की थी। लेनिन ने **1906** में 'मजदूर पार्टी के कृषि कार्यक्रम में संशोधन' में इस बात की संभावना व्यक्त की थी कि यदि रूस में शीपोव मार्का ''संविधानिक शासन'' जारी रहा तो देहात में भूदासता के अवशेष लुप्त हो जायेंगे और तब किसी किस्म का सशक्त जनवादी किसान आंदोलन असंभव हो जायेगा तब कृषि कार्यक्रम में मजदूर पार्टी को बदलाव करना पड़ेगा। लेनिन लिखते हैं,

> ''हम इसका उत्तर देते हैं कि कार्यक्रम तथा कार्यनीति के बीच कोई लक्ष्मण रेखा खींचने की चेष्टा का परिणाम वितंडावाद तथा पांडित्य–प्रदर्शन होगा। कार्यक्रम मजदूर और अन्य वर्गों के बीच आम और बुनियादी सम्बंधों को निर्धारित करता है। कार्यनीति विशेष तथा अस्थायी सम्बंधों को निर्धारित करती है। यह निस्संदेह सही है। परन्तु यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि देहात में भूदासता के अवशेषों के विरुद्व हमारा सारा संघर्ष सर्वहारा वर्ग के आम समाजवादी उद्देश्यों की तुलना में एक विशेष तथा अस्थायी कार्यभार है। ***यदि शीपोव मार्का ''सांविधानिक शासन'' रूस में 10.15 वर्ष जारी रहा, तो ये अवशेष लुप्त हो जायेंगे, अपने आप कालकवलित हो जायेंगे। कोई सशक्त जनवादी किसान आंदोलन तब असंभव हो जायेगा*** और ''भूदासता की व्यवस्था के अवशेषों को मिटाने के उद्देश्य से'' किसी प्रकार के कृषि कार्यक्रम की पैरवी नहीं की जा सकेगी।'' (लेनिन, 'मजदूर पार्टी के कृषि कार्यक्रम में संशोधन' पृष्ठ–**263–264,** खण्ड **-3** जोर हमारा, संकलित रचनायें दस खण्डों में, प्र.प्र.मास्को)

इसी तरह लेनिन ने एक अन्य स्थान पर स्तोलिपिन सुधारों के लम्बे समय तक जारी रहने पर रूस में कृषि अर्थव्यवस्था के पूर्णतया पूंजीवादी होने की सम्भावना व्यक्त की थी और कहा था ऐसी स्थिति में जनवादी क्रांति के दौर के कृषि कार्यक्रम को कूड़े के ढेर में फेंक देना पड़ेगा।

यहां पर यह चर्चा कर लेना उचित होगा कि स्तोलिपिन सुधार क्या थे और उसके क्या परिणाम निकले। इस बारे में प्रमाणिक ढंग से 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास' में यह लिखा हुआ है,

> ''**9** नवम्बर **1906** को, स्तोलिपिन ने एक नया खेती कानून बनाया, जिससे कि किसान कम्यून छोड़ सकते थे और अलग खेती कर सकते थे। स्तोलिपिन के कृषि–कानून ने सामूहिक भूमि अधिकार की व्यवस्था तोड़ दी। किसानों से कहा गया कि वे अपने हिस्सों पर निजी सम्पत्ति की तरह अधिकार कर लें और कम्यूनों से अलग हो जायें। अब वे अपने हिस्से बेच सकते थे, जिसके लिए

पहले उन्हें आज्ञा नहीं थी। जब किसान अपना कम्यून छोड़ता था, तब कम्यून इसके लिये बाध्य था कि जमीन का एक मिला–जुला टुकड़ा (खुतोर, अत्राूब) उसे दे।

धनी किसानों–कुलकों–को अब अवसर मिला कि कम कीमत पर गरीब किसानों की जमीन खरीद लें। कुछ ही साल कानून चालू हुआ था कि दस लाख से ऊपर गरीब किसान अपनी जमीन से पूरी तरह हाथ धो बैठे और एकदम तबाह हो गये। जैसे–जैसे गरीब किसानों के हाथ से उनकी जमीन गयी, वैसे कुलकों के खेत बढ़ने लगे। कहीं–कहीं पर बाकायदा रियासतें बन गयीं, जहां बड़े पैमाने पर किराये की मजदूरी–खेत मजदूरों–से काम कराया जाता था। सरकार किसानों को मजबूर करती थी कि कम्यून की सबसे अच्छी जमीन कुलक किसानों को दी जाय।

किसानों की 'मुक्ति' के दौरान में, जमींदारों ने किसानों की सबसे अच्छी जमीन लूट ली थी। अब कुलक कम्यूनों से उसकी जमीन लूटने लगे। वे सबसे अच्छी जमीन पाने लगे और कम कीमत पर गरीब किसानों के हिस्से खरीदने लगे।'' (सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, पृष्ठ **114.115,** हिंदी संस्करण, कामगार प्रकाशन दिल्ली)

इन स्तोलिपिन सुधारों के लम्बे समय तक जारी रहने पर लेनिन ने कहा था,

''आगे बढ़ें! क्या होगा यदि जन समुदाय के संघर्ष के बावजूद प्रशियाई रास्ते पर स्तोलिपिन की नीति लम्बे समय तक जारी रहती है? तब रूस की कृषि अर्थव्यवस्था पूर्णतया पूंजीवादी हो जायेगी, बड़े किसान लगभग सारी एलॉटमेंट जमीन पर कब्जा कर लेंगे, कृषि पूंजीवादी हो जायेगी, और पूंजीवाद के अन्तर्गत कृषि प्रश्न का कोई भी ''समाधान''– आमूल परिवर्तनवादी या गैर आमूल परिवर्तनवादी– सम्भव नहीं रह जायेगा। तब मार्क्सवादी, जो अपने प्रति ईमानदार हैं, स्पष्ट तौर पर और खुले तौर पर तमाम ''कृषि कार्यक्रम'' को पूर्णतया कूड़े के ढेर पर फेंक देंगे और जन–समुदाय से कहेंगेः रूस को जुंकर किस्म का नहीं बल्कि अमरीकी पूंजीवाद देने के लिए मजदूरों ने वह सब किया जो वे कर सकते थे। सर्वहारा वर्ग की सामाजिक क्रांति में शामिल होने के लिए मजदूर अब आपका आह्वान करते हैं, क्योंकि स्तोलिपिन भावना में कृषि सवाल के ''समाधान'' के ***पश्चात*** किसान समुदाय के जीवन की आर्थिक दशाओं में ***गम्भीर*** परिवर्तन लाने में समर्थ ***और कोई दूसरी क्रांति नहीं हो सकती*** /''व्लेनिन, **On The Beaten Track, C. W. Vol-15, Page-45,** प्र.प्र.मास्को **1973ए** अंग्रेजी संस्करण जोर मूल में, अनुवाद हमारा)

यहां लेनिन रूस (जो कि उस समय जनवादी क्रांति की मंजिल में था और जिसके लिये लेनिन ने मजदूर–किसान के संयुक्त अधिनायकत्व की जरूरत को बताया था) में स्तोलिपिन सुधारों के लम्बे समय तक जारी रहने पर, कृषि अर्थव्यवस्था के पूर्णतया पूंजीवादी हो जाने के कारण कृषि प्रश्न के पूंजीवाद के भीतर क्रांतिकारी अथवा गैर क्रांतिकारी दोनों ही समाधान को असम्भव बताते हैं। ऐसी स्थिति हो जाने पर वे कहते है कि किसानों के जीवन में परिवर्तन कोई जनवादी क्रांति नहीं बल्कि मजदूर वर्ग के नेतृत्व में होने वाली समाजवादी क्रांति ही कर सकती है। यहां लेनिन क्रांतिकारी दृष्टिकोण का ऐसा अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें वे समाज में होने वाले परिवर्तनों के परिणाम के फलस्वरूप क्रांति सम्पन्न हुई हो अथवा नहीं। यहां लेनिन सुधारों के वस्तुगत परिणाम को अपने संज्ञान में लेने को तैयार हैं और वे मानते हैं कि सुधारों के जरिये कृषि अर्थव्यवस्था के पूर्ण पूंजीवादी हो जाने की सम्भावना मौजूद है।

ऐसा नहीं है कि लेनिन **1905** की क्रांति के बाद ही रूस में कृषि में शीपोव अथवा स्तोलिपिन सुधारों के जरिये पूंजीवादी विकास की सम्भावना देख रहे थे बल्कि उन्होंने इन सुधारों के लगभग एक दशक पूर्व (**1899**) में ''रूस में पूंजीवाद का विकास (**The Development of capitalism in Russia**)'' नामक अपनी पुस्तक में आवश्यक सैद्वान्तिक शर्तों के साथ एक लम्बे विश्लेषण में दिखाया था कि रूस में कृषि में पूंजीवाद का विकास कैसे हो रहा है। **1907** में लेनिन ने इस पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में क्रांतिकारी और गैर क्रांतिकारी ढंग से कृषि में पूंजीवाद की विकास की सम्भावनाओं के बारे में लिखा था,

''रूसी क्रांति के वर्तमान आर्थिक आधार में इसके विकास की दो मुख्य दिशायें और उसके परिणाम वस्तुगत तौर पर सम्भव हैं:

या तो पुरानी भूस्वामी अर्थव्यवस्था जो कि भू–दासता के हजारों बंधनों से जकड़ी हुई है, बनी रहे और धीमी गति से शुद्व पूंजीवादी ''जुंकर'' अर्थव्यवस्था में बदल जाये। श्रम–सेवा (**labour-service**) से पूंजीवाद में अंतिम संक्रमण का आधार सामंती भू–स्वामी व्यवस्था का आंतरिक कायान्तरण है। राज्य की समूची कृषि व्यवस्था पूंजीवादी हो जाती है और लम्बे समय तक सामंती लक्षणों को बनाये रखती है या पुरानी भू–स्वामी अर्थव्यवस्था क्रांति द्वारा तोड़ दी जाती है और भू–दासता के तमाम आधारों और सर्वप्रथम बड़े भू–मालिकाने को नष्ट कर देती है।'' (लेनिन,'**Preface of the second edition (1906) of the Development of capitalism in Russia, page-32 Progress Publication** अनुवाद हमारा)

इस पुस्तक में लेनिन ने तथ्यात्मक सामग्री और आंकड़ों के माध्यम से दिखाया था कि कैसे रूस के ग्रामीण समाज में पूंजीवादी सम्बंधों का विकास हो रहा है और किस तरह पूंजीवाद प्राचीन ग्राम समाज जो कि सामुदायिक भूमि प्रणाली (भूमि के सामूहिक उपयोग का रूसी रूप जिसमें किसानों की सामूहिक जिम्मेदारी होती थी कि वे राज्य और जमींदारों को कर व अन्य उगाहियों को समय पर और पूर्ण रूप से चुकता करें, इस प्रणाली में काश्त योग्य भूमि का समय–समय पर पुनर्बंटवारा होता था, किसान भूमि छोड़कर न तो जा सकते थे और न ही इस भूमि का क्रय–विक्रय संभव था) पर आधारित था की जड़ों को खोखला करके वर्ग विभेदीकरण की प्रक्रिया को तेज कर रहा था। इस वर्ग विभेदीकरण के कारण किसान कुलकों (धनी किसान) और गरीब किसान के विरोधी वर्गों में बंट रहा था। कैसे रूसी देहात में ग्रामीण सर्वहारा आबादी जन्म ले रही थी। रूस में यह सब तब घट रहा था जब रूस में जार का शासन था और वह अभी बुर्जुआ–जनवादी क्रांति की मंजिल में था। यह सब कैसे हो रहा था इसकी चर्चा हम पहले ही 'सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास' के उद्वरण के जरिये कर चुके हैं।

इस तरह से उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद–लेनिनवाद गैर क्रांतिकारी ढंग से पूंजीवाद के विकास की सम्भावना से इंकार नहीं करता है और ऐसा होने पर वह इसे यथातथ्य (**Exactitude**) के बतौर स्वीकार करता है। उपरोक्त चर्चा में कृषि में पूंजीवादी विकास की चर्चा ही मुख्य तौर पर की गयी है। इसका कारण यह है कि जब पूंजीवाद के विकास के प्रश्न पर चर्चा होती है उसका केन्द्र 'कृषि प्रश्न' ही होता है। सामंतवादी उत्पादन प्रणाली में कृषि ही प्रमुख स्थान रखती है इसलिए पूंजीवादी विकास का प्रश्न सीधे उससे आकर जुड़ जाता है।

पूंजीवादी विकास के क्रांतिकारी और गैर–क्रांतिकारी रास्ते के
परिणाम के बारे में लेनिन ने लिखा था,

''वस्तुपरक परिस्थितियों की दृष्टि से रूस में क्रांति के दो रास्ते और दो परिणाम संभव हैं। रूस की आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में बुर्जुआ–जनवादी ढर्रे पर परिवर्तन होना अनिवार्य तथा अपरिहार्य है। संसार की कोई भी शक्ति इस परिवर्तन को रोक नहीं सकती। परन्तु जो वर्तमान शक्तियां यह परिवर्तन ला रही हैं, उनकी संयुक्त संक्रियाओं से इस परिवर्तन के दो प्रकार के परिणाम अथवा दो प्रकार के रूप हो सकते हैं। या तो (**1**) परिणाम यह होगा कि ''जारशाही पर क्रांति की निर्णायक विजय'' होगी, या (**2**) ये शक्तियां निर्णायक विजय के लिए अपर्याप्त होंगी और सारा मामला जारशाही और बुर्जुआ वर्ग के सबसे अधिक ''असंगत'' तथा सबसे अधिक ''स्वार्थी'' तत्वों के बीच कोई सौदा होकर खत्म हो जायेगा। ब्यौरों और संयोजनों की सारी विविधता

जिसे पहले से कोई नहीं देख सकता, इन दो परिणामों में से एक बनकर रह जाती है।'' (लेनिन, 'सामाजिक–जनवाद की दो कार्यनीतियां,' पेज–**64,** पैरा **.2,** सं.र. दस खण्डों में खण्ड **.3,** प्र.प्र.मास्को)

यहां लेनिन स्पष्ट तौर पर बता रहे हैं कि जारशाही पर निर्णायक विजय हासिल करने में यदि वर्तमान क्रांतिकारी शक्तियां अपर्याप्त सिद्व हुई तो इसके बाद जारशाही और बुर्जुआ वर्ग के (जनवादी क्रांति में उस समय ढुलमुल ढंग से आखिर हिस्से को छोड़कर) के बीच सौदेबाजी हो जायेगी। और इस सौदेबाजी के जरिये बुर्जुआ–जनवादी दिशा में अनिवार्य परिवर्तन आयेंगे। और ये सब परिवर्तन गैर क्रांतिकारी ढंग से सुधारों के जरिये आयेंगे।

पूंजीवादी विकास और राजसत्ता

किसी समाज में राजसत्ता किस वर्ग (अथवा किन वर्गों) के हाथ में है इससे उस समाज में आर्थिक विकास की गति पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव आर्थिक विकास को त्वरण प्रदान करने से लेकर उसमें भारी अवरोध का काम कर सकता है। राजसत्ता का सवाल इन अर्थों में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब हम इस लेख में उठाये गये प्रश्नों के संदर्भ में बात कर रहे हों। यानी यदि राजसत्ता सामंती वर्ग के हाथ में हो तो वह पूंजीवादी विकास में अवरोधकारी और यदि राजसत्ता पूंजीपति वर्ग के हाथ में हो तो वह इसमें सहायक की भूमिका निभायेगी। हालांकि सवाल की गहराई में उतरने पर कई और आयाम भी सामने आ जायेंगे। जैसे राजसत्ता किस काल व परिस्थिति में पूंजीपति वर्ग के किस हिस्से के पास में है। सामंतों (अथवा अभिजात वर्ग) से पूंजीपति वर्ग के क्या रिश्ते हैं अर्थात् वह पूंजीपति वर्ग के साथ सहयोगी–संश्रयकारी की भूमिका में है अथवा पूंजीपति वर्ग उससे तीखे संघर्षों में उलझा हुआ है। सत्ता पर किसी औपनिवेशिक शक्ति का कब्जा है कि मजदूर–किसान वर्ग का संयुक्त अधिनायकत्व कायम हो चुका है और उसने आर्थिक विकास की दिशा को निर्देशित कर दिया है।

इस तरह से राजसत्ता और उसके वर्ग चरित्रा का सवाल बेहद महत्वपूर्ण हो जाता है। यहां पर राजसत्ता व उसके आर्थिक आधार के सवाल पर कुछ महत्वपूर्ण मार्क्सवादी अवस्थितियों को दुहरा लेना उचित ही होगा।

मार्क्सवाद के अनुसार राजसत्ता एक ऐसा औजार है जिसके जरिये एक वर्ग दूसरे वर्ग का उत्पीड़न करता है। यह एक वर्ग द्वारा अपने अधीन वर्गों पर शासन करने, उन्हें आज्ञाकारी बनाये रखने की मशीन है। यह निजी सम्पत्ति पर आधारित समाजों में शोषण की व्यवस्था को बनाये रखने का उपकरण है। दास समाज से पूंजीवादी समाज आते–आते राजसत्ता बेहद जटिल रूप ग्रहण कर लेती है। और अपने जन्म के समय से अक्सर ही ऐसे व्यवहार करती है मानो वह वर्गों से ऊपर है, उसका कोई वर्गीय चरित्रा नहीं है या फिर जब विपरीत वर्ग आपस में तीखे संघर्ष में उलझे हों तब उसका काम शासन, सुव्यवस्था, शांति बनाये रखना है। यानी कि राजसत्ता वर्गोपरि व्यवहार का पाखण्ड करती है। आधुनिक समय में पूंजीवादी प्रजातंत्रा के तमाम नारे, संसद, सार्विक मताधिकार इस पाखण्ड के बुनियादी तत्व हैं। और मजदूर वर्ग बनी बनाई बुर्जुआ राज्य मशीनरी पर कब्जा करके उसे अपने उद्देश्य के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता है।

राजसत्ता किसी समाज में अधिरचना का हिस्सा होती है जो कि अपने आधार (उत्पादन सम्बंधों) से (द्वात्मक सम्बंधों में बंधी होती है। राजसत्ता अधिरचना का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है। जहां उत्पादन सम्बंधों में बदलाव नई राजसत्ता को जन्म दे सकता है वहां एक स्थापित राजसत्ता नये उत्पादन सम्बंधों के विकास में सबसे बड़ी बाधा बनकर खड़ी हो सकती है। जाहिर सी बात है ऐसे समय में उत्पादन सम्बंध एक नई राजसत्ता के निर्माण की मांग करने लगेंगे।

क्रांति (जो कि पुराने उत्पादन सम्बंधों के स्थान पर नये उत्पादन सम्बंधों को स्थापित करती है) में राजसत्ता का सवाल केन्द्रीय सवाल बन जाता है। 'क्रांति का केन्द्रीय कार्यभार और महानतम रूप राजनीतिक सत्ता पर बलपूर्वक कब्जा करना और सवाल को सशस्त्रा संघर्ष द्वारा हल करना है।'

राजसत्ता के सवाल पर उपरोक्त मार्क्सवादी आम प्रस्थापनाओं के बाद हम अपने मूल विषय पर आते हैं। राजसत्ता और आर्थिक विकास के सवाल को बहुत अच्छे ढंग से एंगेल्स ने अपने एक पत्रा में किया है। यह पत्रा सन् **1890** में एंगेल्स ने कोनराड श्मिट को लिखा था। इस पत्रा के एक लम्बे हिस्से को हम इसलिए उ(त कर रहे हैं कि यह हमारे प्रश्न का उत्तर सरल और स्पष्ट रूप से दे देता है और व्याख्या की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता है। एंगेल्स लिखते हैं,

> ''....समाज के अंदर कुछ ऐसे आम काम पैदा होते हैं (राजसत्ता के जन्म के संदर्भ में–लाल सलाम) जिनको किये बिना उसका निस्तार नहीं हो सकता। इन कामों के लिए जिन व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है उनसे ''समाज के अंदर ही'' श्रम विभाजन की एक नई शाखा कायम हो जाती है इससे उन व्यक्तियों के खास हित पैदा हो जाते हैं जो उन लोगों के हितों से भिन्न होते हैं जिन्होंने उन्हें उन कामों की सत्ता सौंपी थी, वे उन लोगों से स्वतंत्रा हो जाते हैं और–राजसत्ता का जन्म हो जाता है। और अब चीजें ठीक उसी ढंग से चलने लगती हैं जिस ढंग से मालों के व्यापार के तथा, बाद में, मुद्रा के व्यापार के क्षेत्रा में वे चलती हैं : मुख्यतया उत्पादन की गति का अनुसरण करने के लिए बाध्य होते हुए भी, अपनी अंतर्निहित सापेक्ष स्वतंत्राता की वजह से–अर्थात् उस सापेक्ष स्वतंत्राता की वजह से जो एक बार उसको प्रदान कर दी गयी थी और धीरे–धीरे और अधिक विकसित हो गयी है– यह नई सत्ता स्वयम् भी उत्पादन–परिस्थितियों तथा उत्पादन के क्रम पर प्रभाव डालती है।
>
> यह अन्योन्य (पारस्परिक) क्रिया दो असमान शक्तियों के बीच की क्रिया होती हैः एक तरफ आर्थिक गति होती हैऋ दूसरी तरफ वह नई राजनीतिक सत्ता जो अधिक से अधिक स्वतंत्राता प्राप्त करने का प्रयत्न करती है, और जिसमें एक बार स्थापित हो जाने के बाद, स्वयं खुद की गति पैदा हो जाती है। पूरे तौर पर देखा जाये तो अंत में आर्थिक गति की ही विजय होती है, किन्तु उसे भी उस राजनीतिक गतिविधि से प्रभावित होना पड़ता है जिसकी स्वयम् उसने सृष्टि की थी और जिसे उसने एक तरफ, राजसत्ता की गति से और, दूसरी तरफ, उसके साथ–साथ पैदा हो जाने वाले उसके विरोध से सापेक्ष स्वतंत्राता सौंपी थी।....
>
> ***आर्थिक विकास पर राजशक्ति का प्रभाव तीन प्रकार का हो सकता हैऋ वह आर्थिक विकास की दिशा में काम कर सकती है, ऐसा होने पर विकास की गति और तेज हो जाती हैऋ वह विकास का विरोध कर सकती है, और तब आजकल की परिस्थितियों में प्रत्येक महान देश में अंततोगत्वा टूट–फूटकर वह छिन्न–विच्छिन्न हो जायेगीऋ अथवा, फिर आर्थिक विकास को किसी खास दिशा में जाने से रोककर, उसके लिए विकास की वह दूसरी कोई दिशायें निर्धारित कर दे सकती है।*** अंत में, इसका अंजाम भी ऊपर के दोनों अंजामों में से किसी एक श्रेणी के अंतर्गत आ जायेगा। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि दूसरी व तीसरी स्थितियों में राजनीतिक सत्ता आर्थिक विकास को बहुत धक्का पहुंचा सकती है तथा शक्ति और साधनों की भारी बर्बादी का कारण बन सकती है।'' {एंगेल्स, कोनराड श्मिट के नाम पत्रा, **27** अक्टूबर **1890ए** 'पूंजीवाद–पूर्व की सामाजिक–आर्थिक संरचनाएं, सम्पादक–रमेश सिन्हा, पेज **486.487,** इण्डिया पब्लिशर्स लखनऊ, जोर हमारा}

यहां एंगेल्स बताते हैं कि आर्थिक गति (लेख में प्रचलित शब्दावली के अनुसार आर्थिक आधार) ही राजनीतिक शक्ति पर अंतिम रूप से निर्णायक होती है, वह ही मूल या प्रधान होती है परन्तु अपनी बारी में राजनीतिक शक्ति या राजसत्ता भी उस पर प्रभाव डालती है। और यह प्रभाव यहां तक होता है कि वह आर्थिक विकास का विरोध करके उसे छिन्न–भिन्न तक कर सकती है। समरूप होने पर वह आर्थिक विकास की दिशा को गति व त्वरण प्रदान कर सकती है।

उपरोक्त बातों की रोशनी में यदि हम ऐसे ढेरों उदाहरणों को पिछली दो सदी में ही देख सकते हैं जब राजसत्ता ने आर्थिक विकास पर उपरोक्त प्रभावों में से कोई एक प्रभाव डाला हो। ये तीनों ही प्रभाव किसी देश विशेष के इतिहास में हमें अलग–अलग कालखण्डों में भी दिखाई दे सकते हैं। एंगेल्स की बात को हम रूस के इतिहास से समझने का प्रयास करते हैं। यहां हम आम नियम को समझने के लिए तमाम जटिल पहलुओं को नजरअंदाज करते चलेंगे।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक रूस में पूंजीवादी विकास बहुत कम हुआ था। भूदास प्रथा जारी थी। यूरोप के अन्य देशों के मुकाबले रूस ने पूंजीवादी विकास की राह में देर से कदम रखे थे। क्योंकि आर्थिक व्यवस्था का मुख्य रूप भूदास प्रथा पर रियासतें थी और इस प्रथा के रहते हुए पूंजीवाद का विकास तेजी से और ठीक ढंग से नहीं हो सकता। आर्थिक विकास के लिए यह जरूरी हो गया था कि भूदास प्रथा समाप्त हो। यह प्रथा खेती, उद्योग–धंधों सभी के विकास में बाधा बन कर खड़ी थी।

1861 में, जारशाही (राजसत्ता) ने क्रीमिया की लड़ाई में हारने से कमजोर होकर व जमींदारों के प्रति किसानों के बढ़ते आक्रोश से घबराकर भूदास प्रथा को समाप्त कर दिया।

भूदास प्रथा के समाप्त होने के बाद रूस में पूंजीवाद का विकास तेजी से हुआ। उद्योगों व रेल के विकास के साथ–साथ मजदूरों की संख्या में भारी वृद्वि हुई।

भूदास प्रथा के समाप्त होने के बाद भी एक रूप में जमींदारी प्रथा जारी थी। जमींदारों ने भूदासों से मुक्ति के रूप में अच्छी रकम वसूली थी। किसान अब जमींदारों से नकद लगान पर जमीनें लेते थे। नकद लगान के अलावा वस्तु लगान तथा बेगार प्रथा रूस में जारी थी। जारशाही एक ऐसी निरंकुश राजसत्ता थी जिसके अंतर्गत मजदूरों और किसानों को कोई राजनीतिक अधिकार हासिल नहीं थे।

बीसवीं सदी का प्रारम्भ होते–होते जारशाही पूंजीवादी विकास की राह में रोड़ा बनने लगी। 'निरंकुश जारशाही मुर्दाबाद!' के नारे रूस की फिजा में गूंजने लगे। **1905.1907** की असफल क्रांति इस अंतरविरोध को हल नहीं कर सकी। इस असफल क्रांति के बाद जार रूस में कुछ राजनीतिक सुधार करने को बाध्य हुआ। कृषि क्षेत्रा में किये गये स्तोलिपिन सुधारों **(1906)** की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इन सुधारों को हम आर्थिक विकास की दिशा में राजसत्ता द्वारा उठाये गये कदमों के रूप में देख सकते हैं।

प्रथम विश्वयुद्व के शुरुआत होते–होते रूस राजनीतिक शक्ति (जारशाही) और आर्थिक विकास (पूंजीवादी अर्थव्यवस्था) के ऐसे अंतरविरोध में फंस चुका था कि जिसका समाधान पूंजीवादी–जनवादी क्रांति ही कर सकती थी। फरवरी **1917** की क्रांति ने इस काम को अंजाम दिया परन्तु अर्थव्यवस्था का विकास (या उसके अंतरविरोध) उस स्तर तक हो चुका था (या वह एक गहरे संकट में फंस चुकी थी) कि वह एक नई राजनीतिक सत्ता की मांग कर रही थी। अक्टूबर **1917** में हुई समाजवादी क्रांति से अब उस राजसत्ता का उदय हो चुका था जो आर्थिक विकास की दिशा में काम कर सकती थी। उसे गति व त्वरण प्रदान कर सकती थी। समाजवादी राजसत्ता ने ऐसा ही किया और रूस ने इस काल में आर्थिक विकास में कई छलांगें लगायी।

इस उदाहरण में हम देखते हैं कि राजसत्ता का प्रभाव आर्थिक विकास पर एक खास समय में खासा निर्णायक हो जाता है। और दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि आर्थिक विकास क्रमशः उस स्थान पर पहुंच जाता है जहां वह राजनीतिक पहलकदमी की मांग करता है। सुधार या क्रांति की मांग करता है।

उपरोक्त चीज को ही हम पूंजीवादी विकास के विभिन्न रास्तों (इंग्लिश, ंसिसी, जापानी, कोरयाई आदि) में भी देख सकते हैं कि कैसे राजसत्ता आर्थिक विकास की गति को प्रभावित करती है।

बीसवीं सदी को इतिहास हो या चाहे हाल के समय में उत्पन्न हुआ विश्व आर्थिक संकट इसमें हम राजसत्ता की हस्तक्षेपकारी भूमिका के कई उदाहरण देख सकते हैं।

तीसरी दुनिया में पूंजीवाद के विकास के संदर्भ में विचारार्थ कुछ बिंदु

तीसरी दुनिया एक व्यापक, विविध व जटिल श्रेणी बनती है। इस श्रेणी के विभिन्न देश आज ऐतिहासिक विकास की विभिन्न मंजिलों में खड़े है। तीसरी दुनिया से आशय दुनिया के उन पिछड़े देशों से है जो कभी उपनिवेश, अर्ध–उपनिवेश या नवउपनिवेश रहे हैं। ('लाल सलाम' के अंक–**5** में (भाकली माले) के पांचवें सम्मेलन के दस्तावेज में) 'तीसरी दुनिया के देशों की वर्तमान स्थिति' नामक उपशीर्षक में तीसरी दुनिया के देशों को उनकी अलग–अलग स्थिति और विशिष्टता के आधार पर सात श्रेणियों में बांटा गया था। इस वर्गीकरण में पहली श्रेणी के देश (चीन, वियतनाम, क्यूबा, उत्तरी कोरिया, लाओस) अन्य छह श्रेणियों के देशों से इस मायने में भिन्न थे कि इन देशों में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रांतियां हुई। इन सभी देशों में साम्राज्यवाद से आमूल–चूल विच्छेद, सामंती संबंधों के पूर्ण खात्मे के साथ कालान्तर में समाजवाद कायम किया गया था। बाकी श्रेणी के देशों में इस तरह की राष्ट्रीय–जनवादी क्रांतियां नहीं हुई और इन्होंने साम्राज्यवाद से आमूल–विच्छेद भी नहीं किया और इन श्रेणियों के बहुलांश में सामंतवाद अथवा प्राक्पूंजीवादी संरचना के तत्व पूंजीवादी विकास के इनके विशिष्ट रास्तों में लम्बे समय तक मौजूद रहे अथवा आज भी कई देशों में इनकी कम या ज्यादा मौजूदगी है। खाड़ी के अरब देशों में पूंजीवाद के पर्याप्त विकास के बावजूद आज भी मध्ययुगीन तानाशाहियां मौजूद हैं। इस तरह से तीसरी दुनिया के सभी देशों में राष्ट्रीय जनवादी कार्यभार मौजूद हैं। तीसरी दुनिया की पहली श्रेणी के देशों में पूंजीवादी पुनर्स्थापना हो जाने तथा इनके साम्राज्यवाद के साथ आर्थिक नव औपनिवेशिक सम्बंधों में बंध जाने के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई है तथा इस श्रेणी के कई देशों में जनवादी कार्यभार नये रूपों में पुनः उपस्थित हो गये हैं। ये साम्राज्यवाद के साथ आर्थिक नव औपनिवेशिक सम्बंधों में बंध गये हैं।

तीसरी दुनिया के इन सभी देशों में पूंजीवाद का उ७व व विकास साम्राज्यवाद की दखलन्दाजी से हुआ। इन अर्थों में साम्राज्यवाद ने आधुनिक उत्पादन प्रणाली को इन देशों में प्रवेश कराया और इनके अलगाव को तोड़ा। परन्तु इसके साथ ही साम्राज्यवाद ने इन देशों में पूंजीवाद के विकास में अवरोध पैदा किये। जिन देशों में सामंतवाद मौजूद था वहां सामंती शक्तियों से समझौते किये और उन्हें प्रश्रय दिया। इस सम्बंध में माओ (ारा चीन में साम्राज्यवाद की भूमिका पर कही गयीं बातें गौरतलब हैं। माओ ने अपने एक लेख में लिखा था,

> ''...चूंकि चीन के सामंती समाज में तिजारती माल वाली अर्थव्यवस्था का विकास हो चुका था, इसलिए उसमें पूंजीवाद के बीज निहित थे। अगर विदेशी पूंजीवाद का असर न भी पड़ता, तो भी चीन अपने आप धीरे–धीरे पूंजीवादी समाज में विकसित हो जाता। विदेशी पूंजीवाद की घुसपैठ ने इस प्रक्रिया को तेज कर दिया। विदेशी पूंजीवाद ने चीन की सामाजिक अर्थव्यवस्था को

छिन्न–भिन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसने एक तरफ तो चीन की आत्मनिर्भरता वाली प्राकृतिक अर्थव्यवस्था की बुनियादें खोखली कर दी और शहरों की दस्तकारियों व किसानों की घरेलू दस्तकारियों को तबाह कर डाला, तथा दूसरी तरफ शहरों और देहातों में तिजारती माल वाली अर्थव्यवस्था के विकास की रफ्तार को बढ़ा दिया।

इन हालात ने न सिर्फ चीन की सामंती अर्थव्यवस्था की बुनियादों को छिन्न–भिन्न करने की भूमिका अदा की, बल्कि चीन में पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए कुछ वस्तुगत परिस्थितियों और सम्भावनाओं को जन्म दिया। ...

मगर ***पूंजीवाद का उपरोक्त उ७व और विकास चीन में साम्राज्यवाद की घुसपैठ के बाद होने वाले परिवर्तन का महज एक पहलू है। इसका एक अन्य सहगामी और अवरोधकारी पहलू*** भी है, अर्थात् चीनी पूंजीवाद के विकास को रोकने के लिए साम्राज्यवादियों और चीन की सामंती शक्तियों की आपसी सांठगांठ।

... ...

उपरोक्त हालात चीन में साम्राज्यवाद की घुसपैठ के बाद हुए नए परिवर्तन का दूसरा पहलू है– यह सामंती चीन के अर्ध–सामंती, अर्ध–औपनिवेशिक और औपनिवेशिक चीन में बदले जाने की खून से लथपथ तस्वीर है।'' (माओ, 'चीनी क्रांति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी, पेज **543–549,** खण्ड**.2,** सं.रचनाएं, विदेशी प्रकाशन गृह, पेकिंग, **1973,** जोर हमारा)

यहां माओ साम्राज्यवाद द्वारा चीन (इसे पूरी तीसरी दुनिया में लागू किया जा सकता है) में निभायी गयी भूमिका के दो विपरीत पहलुओं की चर्चा कर रहे हैं। एक पहलू से जहां वह पूंजीवाद के उ७व व विकास के जरिये परिवर्तन लाता है वहां इसका दूसरा पहलू जो कि पहले पहलू का सहगामी है अवरोधकारी की भूमिका निभाता है। माओ इस बात की भी चर्चा करते हैं कि यदि साम्राज्यवाद चीन में नहीं आता तो क्या होता। वे बताते हैं कि चीनी समाज में पूंजीवाद के बीज निहित थे। साम्राज्यवाद के हस्तक्षेप न करने पर चीन में स्वतंत्रा ढंग से धीरे–धीरे पूंजीवाद का विकास हो जाता। पूंजीवाद के विकास के इस रास्ते में चीन साम्राज्यवाद द्वारा ढायी गयी तबाही और बर्बादी से बच जाता।

यहां यह बात भी गौर करने की है कि माओ साम्राज्यवाद द्वारा किये गये हस्तक्षेप के दोनों पहलुओं सकारात्मक और नकारात्मक, परिवर्तनकारी और अवरोधकारी की भूमिका की बात कर रहे हैं। तीसरी दुनिया के देशों में जनवादी कार्यभारों की प्रकृति पर इस दृष्टि से अवश्य ही विचार किया जाना चाहिए। जैसे दक्षिण कोरिया, ताइवान, सिंगापुर जैसे देशों में साम्राज्यवाद ने कृषि में पूंजीवाद के विकास और सामंती बंधनों को तोड़ने में विशेष हस्तक्षेपकारी भूमिका निभायी। इसमें समाजवाद की चुनौती और अमेरिकी साम्राज्यवाद के हित एक बड़ी भूमिका निभा रहे थे। ये अमेरिका के नवउपनिवेश बन गये थे। आज ये ऐसे देश हैं जहां एक तरफ पूंजीवाद का विकास यूरोप के देशों के सदृश है परन्तु राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार बचे हुए हैं।

इस तरह से तीसरी दुनिया के देशों में जनवादी क्रांति के छूटे हुए कार्यभारों पर ***परिवर्तन और निरन्तरता*** की दृष्टि से अवश्य ही विचार किया जाना चाहिये। पहली श्रेणी के देश जहां राष्ट्रीय–जनवादी क्रांतियां हुई उनके विशिष्ट प्रवर्ग को छोड़ दिया जाय तो तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में पूंजीवाद का विकास गैर क्रांतिकारी ढंग से हुआ है। इसमें सुधारों की विशेष भूमिका है। सुधारों के रास्ते से हुए पूंजीवादी विकास ने जहां एक तरफ इन समाजों में परिवर्तनों को जन्म दिया वहां इस कारण से अतीत के अवशेषों की निरंतरता बनी रही। यह इन देशों के न केवल आधार बल्कि आधार से कई गुना ज्यादा अधिरचना में आज भी मौजूद हैं। सुधारों के रास्ते की वजह से इन देशों में मजदूरों, किसानों व अन्य मेहनतकशों को भारी कष्ट उठाने पड़े। सुधारों का रास्ता कैसा होता है इसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। सामंती अतीत के अवशेष जहां उन समाजों में नाममात्रा (हालांकि पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद इनका नये रूपों में पुनरुत्थान हुआ है और ये मूलतः विचारधारा के क्षेत्रा में हैं) के हैं वह उन समाजों में जो पहली श्रेणी के अतिरिक्त हैं इनकी अच्छी–खासी मौजूदगी अधिरचना के क्षेत्रा में होने के साथ–साथ आधार में भी बनी हुई है। स्पष्ट ही है कि तीसरी दुनिया का बहुलांश सुधारों व अन्य वजहों से समाजवादी क्रांति की दहलीज में पहुंच गया है। अतः इन सभी अतीत के अवशेषों व राष्ट्रीय मुक्ति से सम्बन्धित कार्यभारों को यही क्रांति सम्बोधित करेगी।

निरन्तरता का पहलू इन समाजों में (पहली श्रेणी को छोड़कर) राजसत्ता के अंगों स्थायी सेना और नौकरशाही (और यहां तक कि संविधान की रूप व अंतर्वस्तु में एक निरन्तरता व विकास खासकर भारत के संदर्भ में तो हम स्पष्ट तौर पर समझते हैं) में इसे पाते हैं। यहां इन देशों ने औपनिवेशिक अतीत के अवशेषों को अपना लिया और बदले समय और जरूरत के हिसाब से ही कुछ परिवर्तन किये। क्योंकि इन देशों में सत्ता गैर सर्वहारा वर्ग के हाथ में आयी थी इसलिए उसका बनी–बनाई राज्य मशीनरी से काम चल सकता था और उन्होंने ऐसा ही किया।

अतीत के अवशेषों की राजसत्ता में मौजूदगी के बावजूद इन देशों के अधिकांश हिस्से में पूंजीवादी राजसत्ता मौजूद है। इन देशों में अतीत के अवशेषों की मौजूदगी अधिरचना के गैर राज्य क्षेत्रों में अधिक है। यहां यह भी एक खास बात है कि मूलाधार में पूंजीवादी उत्पादन सम्बंधों के विकास की गति की अपेक्षा अधिरचना के गैर राज्य **(दवद `ंजंजम)** क्षेत्राों में पूंजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया बेहद धीमी रही है। इस तरह से यहां एक नया अंतरविरोध अधिरचना का पिछड़ा होना (खासकर राज्येतर हिस्सा) और मूलाधार का पूंजीवादी रूपान्तरण कई किस्म के तनाव, विवाद और समस्याओं को जन्म देता रहता है। इन देशों में संसदीय चुनावों के समय खासकर अधिरचना के राज्येतर क्षेत्रा में अतीत के अवशेषों की मौजूदगी खुलकर सामने आती है।

तीसरी दुनिया के देशों की समाजवादी क्रांतियां

तीसरी दुनिया के देशों की समाजवादी क्रांतियों को जनवादी क्रांति के अधूरे छूटे कार्यभारों को पूरा करना होगा। इन कार्यभारों में सामंती अवशेषों (और यहां तक कि उससे पूर्व की संरचनाओं के भी) के साथ–साथ राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार शामिल हैं। इन देशों में ऐसा क्यों हो रहा है? इसका जवाब इन देशों के पूंजीवादी विकास के खास किस्म यानी साम्राज्यवाद द्वारा इन देशों में पूंजीवाद का उ७व व विकास के दौरान सामंतवाद से सांठ–गांठ और फिर इन देशों की राष्ट्रीय स्वतंत्राता के बाद आम तौर पर सत्तारूढ़ पूंजीपति (अथवा निम्न पूंजीपति) वर्ग द्वारा विश्व पूंजीवादी व्यवस्था से कम या ज्यादा एकाकार होते हुए सुधारों के जरिये पूंजीवाद का विकास करना और सामंत वर्ग (या ऐसे ही तत्वों) के साथ सुलह–समझौते करते हुए सामंती संरचनाओं को पूंजी के मातहत करना। (इसके विविध पक्षों के बारे में चर्चा पहले ही कर चुके हैं)।

इन देशों में एक ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति है जिसमें ''अतीत के कई तत्व भविष्य के तत्वों के साथ घुलमिल गये हैं।'' यहां पर लेनिन की उन बातों को याद कर लेना उचित होगा जो उन्होंने रूस के संदर्भ में एक समय कहीं थीं। यहां लेनिन ने यूरोप की भावी समाजवादी क्रांतियों के संदर्भ में भी उस समय कहा था कि उन्हें भी जनवाद के क्षेत्रा के कई अधूरे कार्यभारों को पूरा करना पड़ेगा। लेनिन ने कहा था,

''ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों में अतीत के तत्व बेशक भविष्य के तत्वों के साथ घुलमिल जाते हैं, दोनों रास्ते एक दूसरे को काटते हैं। उजरती श्रम तथा निजी मिल्कियत के खिलाफ उसका संघर्ष एकतंत्रा शासन में भी मौजूद रहता हैऋ वह भूदासता के अंतर्गत भी उत्पन्न होता है। परन्तु यह बात किसी भी प्रकार हमें विकास की मुख्य मंजिलों के बीच तार्किक तथा ऐतिहासिक भेद करने से नहीं रोकती। हम सभी बुर्जुआ क्रांति तथा समाजवादी क्रांति को एक–दूसरे के विरुद्व खड़ा करते हैं, हम सभी उनके बीच बहुत सख्ती के साथ भेद करने की नितांत आवश्यकता पर जोर देते हैंऋ परन्तु क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है कि इतिहास में दोनों क्रांतियों के अलग–अलग खास–खास तत्व आपस में घुल–मिल जाते हैं? क्या यूरोप की जनवादी क्रांतियों का काल अनेक समाजवादी आंदोलनों तथा समाजवाद की कोशिशों से परिचित नहीं है? और क्या यूरोप की भावी समाजवादी क्रांति को जनवाद के क्षेत्रा में अधूरे छूटे बहुत सारे कार्यों को पूरा नहीं करना पड़ेगा?'' (लेनिन, 'सामाजिक–जनवाद की दो कार्यनीतियां', पृष्ठ.**103,** पैरा–**3,** खण्ड–**3ए** वहीं, जोर मूल में)

लेनिन ने ये शब्द आज से सौ वर्ष पूर्व कहे थे तब से पूरी दुनिया में व्यापक परिवर्तन आ गये हैं। उस समय के रूस की तुलना आज के भारत से की जायेगी तो हम पायेंगे कि भारत उस समय के रूस से हर मामले में (सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में) बहुत आगे खड़ा है। भारत की स्थिति आज यह है कि सर्वहारा आबादी भारत की सबसे बड़ी आबादी है। आबादी में किसानों का वर्चस्व समाप्त हो चुका है। ऐसी अनेक तुलनाएं की जा सकती हैं। दुनिया में पिछली एक सदी में आये बड़े परिवर्तनों को भाकली (माले) के छठे सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों वाले हिस्से में 'दुनिया एक नई दहलीज पर' नामक उपशीर्षक में सटीक ढंग से रखा गया है। यहां पर उसे दुहराये बगैर हम यह कहना चाहते हैं कि निस्संदेह आज तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में क्रांति की मंजिल समाजवादी है और उसे यूरोप में एक सदी पूर्व होने वाली समाजवादी क्रांति की तरह लेनिन के शब्दों में उसे ''जनवाद के क्षेत्रा के अधूरे छूटे बहुत सारे कार्यों को पूरा करना पड़ेगा''।

इसी पुस्तक में लेनिन आगे इस बात को लिखते हैं कि राजनीतिक कार्यभार कैसे तय किये जाने चाहिए। वे इस संदर्भ में रूस व जर्मनी के कार्यक्रमों की तुलना करते हैं।

''ठोस राजनीतिक कार्यभार ठोस परिस्थितियों में निर्धारित किये जाने चाहिए। सभी चीजें सापेक्ष होती हैं, सभी चीजों में प्रवाह होता है और सभी बदलती रहती हैं। जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के कार्यक्रम में जनतंत्रा की मांग नहीं है। जर्मनी में परिस्थिति ऐसी है कि व्यवहार में इस प्रश्न को समाजवाद के प्रश्न से अलग नहीं किया जा सकता (हालांकि जर्मनी के सम्बंध में भी एंगेल्स ने **1891** में एर्फर्ट कार्यक्रम के मसविदे पर अपनी टीका में जनतंत्रा और जनतंत्रा के लिए संघर्ष के महत्व को कम आंकने के खिलाफ चेतावनी दी थी!)। रूसी सामाजिक–जनवादी पार्टी के अंदर कार्यक्रम तथा आंदोलन में से जनतंत्रा की मांग को निकाल देने का सवाल कभी उठा तक नहीं है, क्योंकि हमारे देश में जनतंत्रा के प्रश्न और समाजवाद के प्रश्न के बीच अटूट सम्बंध का कोई सवाल हो ही नहीं सकता। **1898** के किसी जर्मन सामाजिक–जनवादी के लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक बात थी कि वह जनतंत्रा के प्रश्न को खास तौर पर सबसे आगे न रखे। इस पर न तो हमें आश्चर्य होता है और न हम उसकी निंदा ही करते है। परन्तु यदि कोई जर्मन सामाजिक–जनवादी **1848** में जनतंत्रा के प्रश्न को पीछे डाल देता, तो वह क्रांति के साथ सरासर गद्दारी करता। ***अमूर्त सत्य नहीं होता। सत्य हमेशा ठोस होता है।''*** (लेनिन, वही, पृष्ठ **104.105,** जोर हमारा)

लेनिन की बात सुस्पष्ट है कि **1898** तक आते–आते जर्मनी की ''ठोस परिस्थितियों'' में ऐसे परिवर्तन आ चुके थे कि अब जर्मनी के क्रांतिकारियों के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वे **1848** की तरह जनतंत्रा के प्रश्न को सबसे आगे न रखें। यहां जो सबसे महत्वपूर्ण ढंग से गौर करने की है कि एक समय (**1898** में) यह प्रश्न गौण हो गया है। परन्तु इतना भी गौण या तुच्छ नहीं हो गया कि वे इसे अपने कार्यक्रम में कोई भी स्थान न दें।

तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों के संदर्भ में भी यही हुआ है कि पिछले चालीस–पचास सालों में इन देशों की परिस्थितियों में ऐसे परिवर्तन आ गये हैं कि जो प्रश्न एक समय प्रमुख थे वे शनैः शनैः गौण होने की ओर बढ़ गये और इतिहास ने अब इन देशों में भी समाजवाद के प्रश्न को प्रमुख स्थान प्रदान कर दिया है। **1949** के चीन की तरह एक समय लगभग पूरी ही तीसरी दुनिया जनवादी क्रांति की मंजिल में खड़ी थी। ऐसे में जो चीन में हुआ वही तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों के लिए अनुकरणीय था यानी नव जनवादी क्रांति को सम्पन्न करके तुरन्त ही समाजवाद की ओर प्रस्थान। और प्रथम विश्वयुद्व तथा अक्टूबर क्रांति के समय से यह दुनिया में इतिहास ने स्थापित व साबित कर दिया कि अब जनवादी क्रांति के कार्यभारों को क्रांतिकारी ढंग से केवल और केवल सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में ही सम्पन्न किया जा सकता है और ऐसी जनवादी क्रांति विश्व सर्वहारा समाजवादी क्रांति का अंग है। परन्तु अभी भी तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों की स्थिति ऐसी नहीं है कि वहां ऐसी समाजवादी क्रांति घटे जो अपने रूप में पूर्ण शुद्व हो और उसे किन्हीं जनवादी कार्यभारों को सम्बोधित नहीं करना पड़े। यहां तक कि यह बात चीन जैसे देशों के लिये भी सही है। चीन, वियतनाम, उत्तरी कोरिया जैसे देशों में जनवाद का सवाल अन्य कई कारणों से नहीं बल्कि सिर्फ एक कारण से कि इन देशों में वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था एक सामाजिक–फासीवादी व्यवस्था है के कारण, महत्वपूर्ण सवाल बन जाता है। हालांकि इस सवाल का जवाब किसी किस्म का बुर्जुआ जनवाद नहीं बल्कि समाजवाद ही है। इन देशों में कायम सामाजिक–फासीवादी शासन व्यवस्था ने इन देशों के मजदूरों, किसानों व अन्य मेहनतकशों को सामान्य बुर्जुआ जनवादी अधिकारों से भी वंचित किया हुआ है। और साथ ही इन समाजों में ऐसे कई सवाल (जैसे किसान प्रश्न, राष्ट्रीयताओं का प्रश्न, स्त्रियों के साथ दोयम दर्जे का व्यवहार, कन्या भ्रूण हत्या, पितृसत्तात्मक–धार्मिक–मध्ययुगीन मूल्यों व कूपमंडूकता की पुनर्स्थापना) जो एक समय पूरी तरह से हल कर दिये गये (या जो हल होने की ओर क्रमशः बढ़कर लुप्त होने की ओर थे) अब पुनः उपस्थित हो गये हैं।

जब तीसरी दुनिया के इन देशों में जहां एक समय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनवादी क्रांतियां सम्पन्न हुई थी वहां कि यह स्थिति हो तो अन्य देशों के लिए जहां क्रांतियां न हुई हो वहां तो जनवाद का सवाल इन देशों की भावी समाजवादी क्रांति का एक अहम सवाल बन जाता है। लेनिन के शब्दों मे अगर कहें तो 'अतीत के तत्व भविष्य के तत्व के साथ घुलमिल' गये हैं। इस तरह से तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों की भावी समाजवादी क्रांति को जनवादी क्रांति के छूटे हुए कई कार्यभारों को सम्बोधित करना पड़ेगा। पद्वति और कारणों पर क्योंकि हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं अतः इसे यहां पर हम दुहरा नहीं रहे हैं।

यहां जो सवाल अब महत्वपूर्ण बन जाता है कि वह यह कि तीसरी दुनिया की समाजवादी क्रांतियों को जनवाद के ऐसे कौन से अधूरे कार्यभार हैं जो सम्बोधित करने पड़ेंगे। किसी देश विशेष के विशिष्ट कार्यभारों (जैसे भारत में जाति व्यवस्था) की चर्चा यहां पर क्योंकि करना सम्भव नहीं है इसलिए हम आम कार्यभारों की ही चर्चा संक्षेप में करेंगे।

आम कार्यभारों में तीसरी दुनिया के साम्राज्यवाद से मुक्ति अथवा राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार की चर्चा हम सबसे पहले करते हैं। भाकली (माले) मानती है कि तीसरी दुनिया के अधिकांश देश साम्राज्यवाद से आर्थिक नव औपनिवेशिक सम्बंध में बंधे हैं और राजनीतिक तौर पर स्वतंत्रा हैं हालांकि इनकी राजनीतिक स्वतंत्राता पर साम्राज्यवाद दबाव बनाकर रखता है और अपने हितों को आगे बढ़ाने या एक साम्राज्यवादी शक्ति (या समूह) जब दूसरी साम्राज्यवादी शक्ति (या समूह) अपने प्रभाव क्षेत्रा के विस्तार अथवा कच्चे माल के स्रोत, बाजार सैनिक आवश्यकताओं आदि के लिये समय समय पर इन देशों की सम्प्रभुता व स्वतंत्राता पर हमला करता रहता है। इराक, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान, सोमालिया, नाइजीरिया, जार्जिया आदि समकालीन विश्व के उदाहरण है जहां किसी न किसी बहाने साम्राज्यवाद ने सैनिक

हस्तक्षेप किये। उत्तरी कोरिया, ईरान आदि देश ऐसे उदाहरण हैं जहां साम्राज्यवाद अपनी संस्थाओं द्वारा इनके राजनीतिक स्वतंत्राता पर दबाव बनाता है। इसी तरह कई सारे देश ऐसे हैं दक्षिण कोरिया, ताइवान, फिलीपीन्स इत्यादि जहां पर अमेरिकी सेनायें दूसरे विश्वयुद्व से ही मौजूद हैं। और इन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार विशिष्ट रूप में मौजूद है।

तीसरी दुनिया के कतिपय देशों में राष्ट्रीय मुक्ति का कार्यभार साम्राज्यवाद से मुक्ति से भिन्न संदर्भ में भी मौजूद है। इसे हम आम तौर पर इन देशों में 'राष्ट्रीयता की समस्या' के रूप में चिर्ति करते हैं। भारत (कश्मीरी, नगा, मणिपुरी ...द्ध, चीन (तिब्बत, शिनजियांग ...द्ध, श्रीलंका (तमिल..) आदि कई देशों में उत्पीड़ित राष्ट्रीयतायें दशकों से इन तीसरी दुनिया के शासकों के खिलाफ संघर्षरत हैं) यहां साम्राज्यवादी देशों से उत्पीड़ित देश स्वयं उत्पीड़क के रूप में सामने आते हैं। इन राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय का अधिकार (उसमें इनका इन देशों से अलग हो जाने का अधिकार शामिल है) एक जनवादी अधिकार है। यह विशिष्ट कार्यभार भी इन देशों की समाजवादी क्रांति का अहम प्रश्न है।

तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में किसान सवाल अपने को बदले हुए रूप में हजारों ढंग से अभिव्यक्त करता है। किसान सवाल अपने चरित्रा में जनवादी सवाल रहा है परन्तु तीसरी दुनिया के देशों में पूंजीवादी विकास के चलते इस सवाल का चरित्रा पहले से और अधिक जटिल हुआ है। किसान आबादी में हुए विभेदीकरण तथा पूंजीवाद में किसानों के इन विभेदीकृत हिस्सों की अलग–अलग भूमिका ने इस सवाल में व्यापक बदलाव कर दिये हैं। यथा भू–स्वामी व धनी किसान भावी समाजवादी क्रांति के शत्राु वर्ग में है और ये किसान सवाल के दायरे से बाहर जा चुके हैं। मध्यम व छोटे किसानों का आज शोषण बाजार व राजसत्ता के जरिये पूंजीपति वर्ग (देशी व साम्राज्यवादी) कर रहा है। इस तरह से किसानों का शोषण सामंती ढंग से न होकर मूलतः पूंजीवादी ढंग से हो रहा है। यह वह सवाल है जिसे किसी देश में अब जनवादी क्रांति नहीं बल्कि समाजवादी क्रांति ही हल कर सकती है। किसान सवाल में विचार करने पर हम पाते हैं कि तीसरी दुनिया के कई देशों में आज भी सामंती, अर्द्वसामंती उत्पादन सम्बंध ही नहीं कई स्थानों पर अपने अवशेषों के रूप में प्राक्सामंती सम्बंध भी मौजूद हैं। कबीलाई जीवन का तीसरी दुनिया में यत्रा–तत्रा बिखरा होना जहां इसे अभिव्यक्त करता हैं वहां अधिरचना के क्षेत्रा में कबीलाई मूल्य–मान्यताओं की उपस्थिति अभी भी एशिया–अफ्रीका के कई देशों में पर्याप्त मात्राा में है। इस मामले में अतीत के ही नहीं बल्कि सुदूर अतीत के तत्व भी भविष्य के तत्व के साथ घुले–मिले हैं। इन अर्थों में विभिन्न देशों के कृषि कार्यक्रम में जमीन के राष्ट्रीयकरण से भूमि वितरण की नीतियों का समावेश हो सकता है। यह भी हो सकता है कि कतिपय देशों में कृषि व अन्य क्षेत्राों में उत्पादकता बढ़ाने के लिए कुछ हिस्सों में सीमित स्तर पर पूंजीवाद को मौका दिया जाय।

तीसरी दुनिया में किसान सवाल एक बेहद जटिल सवाल है। इसकी जटिलता और विविधता तीसरी दुनिया के विभिन्न देशों में होने वाली भावी समाजवादी क्रांति के इतने विविध रूपों का सृजन कर सकती है कि पूर्वानुमान लगाना भी मुश्किल है। ऐसे ही जनवादी कार्यभारों को पूरा करते हुए समाजवाद का निर्माण कितने टेढ़े–मेढ़े रास्ते व काल में होगा यह अंदाज लगाना भी मुश्किल है। जाहिर सी बात है ऐसे अनुमानों की गणना करना, भविष्य बताना मार्क्सवादी वैज्ञानिकों का नहीं बल्कि ऐसे व्यक्तियों का काम है, जो ऐसे बुद्विजीवी हैं, जो सिर्फ गाल बजाते हैं। या यह ही उनका शगल या पेशा है।

तीसरी दुनिया के देशों में किसानों के इतर भी छोटे उत्पादकों, दस्तकारों छोटे व्यवसाई, छोटे दुकानदारों इत्यादि का विशाल वर्ग बनता है। यह इन देशों में पिछड़े हुए पूंजीवाद की निशानी है। तीसरी दुनिया के देशों के पूंजीवाद का चरित्रा ही ऐसा है जिसमें पिछड़ापन, ऊबड़–खाबड़पन, असमानता, धीमा व अवरुद्व विकास, छोटे पैमाने के उत्पादन की बहुलता पर निर्भरता, निम्न उत्पादकता आदि की भरमार है। ये सब चीजें मिलकर तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में पूंजीवाद की उपस्थिति के बावजूद ऐसे कार्यभारों को बनाये रखती हैं जो जनवादी कार्यभारों की श्रेणी में आते हैं।

आर्थिक आधार में जनवादी क्रांति के छूटे कार्यभारों के मुकाबले अधिरचना के खासकर राज्येतर क्षेत्रा में तीसरी दुनिया में जनवाद के ढेरों अनसुलझे प्रश्न हैं। इनकी प्रचुरता इतनी ज्यादा है कि अक्सर ही इन देशों में क्रांति के निर्धारण के दौरान इन्हें प्रमुख (व कभी–कभी बुनियादी) तत्व मान लिया जाता है। और अक्सर ही जनवादी क्रांति की मंजिल के निर्धारण में इन्हें प्रमाण के बतौर पेश किया जाता है। ये बातें और कुछ नहीं तो यह तो सिद्व करती हैं कि तीसरी दुनिया की भावी समाजवादी क्रांति को अधिरचना के क्षेत्रा में जनवाद के छूटे कार्यभारों के सिलसिले में कितना अधिक काम करना होगा। औपनिवेशिक, सामंती, मध्ययुगीन, धार्मिक, पितृसत्तात्मक और यहां तक कि कबीलाई मूल्यों व संस्कृति के अवशेषों की सफाई के समक्ष सैकड़ों अवगी की घुड़सालों की सफाई भी कम पड़ जाये।

अगले अंक में हम भारतीय संदर्भ में जनवादी क्रांति के छूटे कार्यभारों और समाजवादी क्रांति की चर्चा करेंगे।